पथिक-प्रमोद

(कहानी संग्रह)

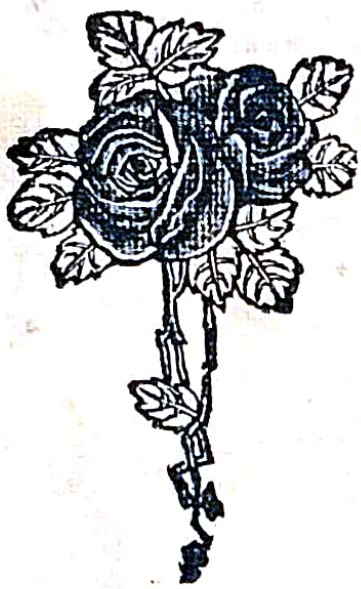

लेखक

श्री विजयसिंह "पथिक"

प्रथम बार २००० | सन् १९५७ | मूल्य २॥)

पथिक-प्रमोद

(कहानी संग्रह)

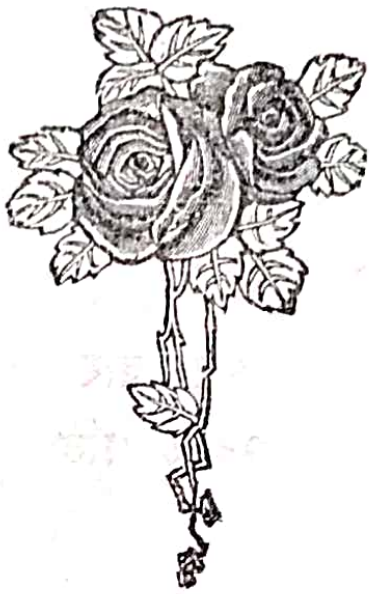

लेखक

श्री विजयसिंह "पथिक"

प्रथम बार २००० | सन् १९५७ | मूल्य २॥)

प्राकशक—
पथिक स्मारक समिति,
जानकी निवास, पथिक मार्ग,
जनरलगंज, मथुरा (उत्तर प्रदेश)

प्रथम बार
२००० प्रति

मुद्रक:—
श्री उमेद प्रेस, कोटा

आमुख

इन कहानियों के लेखक श्री विजयसिंह पथिक बहु मुखी प्रतिभा के धनी थे। राजस्थान उनका विशेष रूप से कार्य क्षेत्र रहा। उन्होंने राजस्थान में सामन्तवाद से जबर्दस्त टक्कर ली थी और उसके नागपाश में जकड़ी हुई राजस्थान की जनता को शोषण और उत्पीड़न से मुक्त कराने में महत्वपूर्ण योग दिया था। एक प्रकार से उनका सारा जीवन उस समय के सत्ताधीशों से संघर्ष करने में व्यतीत हुआ। उन्होंने अत्यन्त सवेदन शील हृदय पाया था और उन्होंने राजस्थानी जीवन का बहुत निकट से अध्ययन किया था। इसलिए उन्होंने जो भी लिखा है उसमें एक क्रान्तिकारी सुधारक की भावनाएं अभिव्यक्त हुई हैं। उन्होंने सड़ी-गली और दकियानूसी समाज व्यवस्था के स्थान पर न्याय, श्रम सरलता, सादगी और प्रेम एवम् सहानुभूति पर आधारित समाज रचना की कल्पना की और उसे साकार करने के लिए प्रयत्न किया। उन्होंने साहित्य को इसी प्रयास का माध्यम बनाया। उन्होंने जहां यथार्थ का चित्रण किया है, वहां आदर्श को अपनी दृष्टि से कभी ओझल नहीं होने दिया है।

इस कहानी संग्रह में उनकी आठ कहानियाँ प्रस्तुत की जा रही हैं। ये कहानियां उस समय लिखी गई, जब श्री पथिक जी सामन्तवाद से मोर्चा लेते हुए उदयपुर राज्य द्वारा बन्दी बना लिए गए थे। शरीर जेल की चार दीवारी में बन्द था, किन्तु मन को कल्पना लोक में विचरण करने का काफी अवकाश था। पथिक जी जेल से मुक्त हुए, किन्तु जेल जीवन में उन्होंने जो साहित्य रचा था, वह तो तब भी बन्दी ही रहा। जब देश स्वतन्त्र हुआ और राजस्थान में सामन्तवादी व्यवस्था का अन्त हुआ, तब कहीं यह साहित्य उसके रचयिता को प्राप्त हो सका। किन्तु थोड़े समय बाद दुर्भाग्य से पथिकजी इस लोक से ही प्रयाण कर गए। अब पथिक स्मारक समिति उनके साहित्य को प्रकाश में लाने का

प्रबन्ध कर रही है ताकि आने वाली पीढ़ी उससे समुचित लाभ उठा सके। राजस्थान के मुख्य मंत्री श्री मोहनलालजी सुखाड़िया के प्रति समिति अपनी कृतज्ञता प्रकट करती है, जिन्होंने इस साहित्य के प्रकाशन में विशेष दिलचस्पी ली और राजस्थान सरकार की ओर से आर्थिक सहयोग प्रदान किया। उनकी इस उदार सहायता के बिना इस साहित्य का (प्रकाशन) असंभव ही होता।

कहानियां जैसी भी हैं, पाठकों के सामने हैं। पथिक जी की रचनाओं ने अपने काल में नव-जागरण का शंख फूंका था और सुधार के पथ पर आगे बढ़ने की प्रेरणा दी थी। समय बीत जाने पर भी उनकी रचनाओं में यह तत्व प्रचुर मात्रा में मौजूद है। उस समय की परिस्थितियों का चित्रण इतिहास की दृष्टि से भी उपयोगी होगा। हमारी आशा है कि पाठकों के लिए यह कहानी संग्रह न केवल रुचिकार होगा, बल्कि उद्‌बोधक भी। इन कहानियों में स्त्री-पुरुष की समानता हिन्दू मुस्लिम एकता, अच्छाई और बुराई का संघर्ष, देशभक्ति और स्वातंत्र्य प्रेम को चित्रित किया गया हैं। समाज में विवाह के नाम पर कैसा घृणित व्यापार चलता है, उस पर 'विवाह या व्यापार' शीर्षक कहानी में प्रकाश डाला गया है। 'अनुपम त्याग' में महाभारत की एक ऐतिहासिक कथा को नये रुप में दोहराया गया है और अन्तिम कहानी में नारी के तेजस्वी रूप का दर्शन कराया गया है। किस प्रकार अबला समझी जाने वाली नारी अपने विपथगामी पति को सीधी राह पर लाने में सफल होती हैं। संक्षेप में ये कहानियां समाज के वास्तविक रूप को चित्रित करती हैं और एक नये आदर्श की ओर संकेत करती हैं। लेखक ने कहानी कला को उच्च उद्देश्य की पूर्ति का माध्यम बनाया है।

नई दिल्ली,
१५ दिसम्बर १९५६,

शोभालाल गुप्त
अध्यक्ष
पथिक स्मारक समिति

लेखक:—

स्वर्गीय "श्री विजयसिंहजी पथिक"

नम्र निवेदन

सन् १९५४ मई का महीना था ! हर साल की भाँति स्कूल की छुट्टियाँ होते ही मैं पूज्य श्री पतिदेव के पास अजमेर गई। वहां उनको लू लगी थी। सवेरे ८ की गाड़ी से मैं व बहनोई श्री फूलसिंह पहुँचे श्री डा० सा० राजपालजी उन्हें देख रहे थे। श्री पृथ्वीसिंहजी महता का परिवार बड़ी संलग्नता से सेवा सुश्रषा कर रहा था। मैंने जाते ही पूछा कि आपने मुझे पत्र क्यों नहीं दिया ? कहने लगे कि तुम्हें इसलिये पत्र नहीं दिया कि तुम बीमारी का हाल सुनकर घबरा जातीं और मुझे तो यह विश्वास था कि तुम आही जाओगी सो तुम आही गई।

अजमेर में पहले कई बार बीमार हुए थे। तब डा० सा० अम्बा-लालजी शर्मा ही इलाज किया करते थे और अच्छा भी कर लेते थे। इसी विचार से मैंने कहा कि आपने डा० सा० को क्यों नहीं बुलाया तो कहने लगे कि डा० सा० मिले नहीं उसी समय मैंने श्री फूलसिंह को डा० सा० के पास भेजा। डा० सा० अपने पास से ही दवा व इंजेक्शन आदि लेकर आए। उसी समय इन्जेक्शन दिया और दवा दी। उसदिन अच्छे रहे। रात को भी थोड़ी सी नींद आई। दिन में मिलने वाले आते तो जैसा कि उनका हंसी करने का स्वभाव था सबसे हंस २ कर बातें करते। सब के मना करने पर भी मानते नहीं थे। उन्हीं दिनों श्री शोभालालजी गुप्ता की धर्मपत्नी श्री विजयाबहिन अजमेर आई हुई थी ! वह मिलने जाती तो अपने स्वभाव के अनुसार बड़ी जोर से हंसते।

बीमारी की हालत में भी उन्हें देश के काम की बड़ी धुन थी। डा० सा० आते तो कहने लगते कि डा० सा० मुझे शीघ्र अच्छा करो। नोटिस छप गये हैं, अखबार निकालना है।

अपनी बीमारी की चिन्ता न करके हम लोगों की चिन्ता अधिक करते थे। बार बार हम लोगों से कहते कि तुम लोग रात के जगे हो खाना खाकर सो जाओ। बार २ आग्रह करने पर हम सब थोड़ी देर के लिये जमीन पर लेट गये। मैंने अपने भतीजे अभय कु० को पास बिठाया। इसी बीच में पेशाब करने के लिये उठे और पास ही गुसलखाने में गये। उनके पीछे ही फूलसिंह भी उठे और उन्हें पकड़ कर बिस्तरे पर लिटा दिया। उसी समय से जिह्वा कुछ २ लड़खड़ाने लगी। उस रात नींद भी नहीं आई। उस रात को वेही पिछली बातें याद करते रहे। कभी कहते कि स्टेशन पर कुछ आदमियों का इन्तजाम करना है। हथियार वहां रखे हैं। ऐसा न हो कि ट्रेन छूट जाय। हथियारों का किसी को पता लग जाय। कभी माला फेरने लग जाते।

तीन चार साल पहिले से पूजा आदि भी करने लगे थे। चैत्र व आश्विन में पूरे नौ दुर्गा के दिनों में उपवास करते थे और रात्रि को हवन करके दूध या साबूदाना लेते थे।

वह रात तो उसी प्रकार निकली। सवेरा होते ही डा० सा० आए और उन्होंने इंजेक्शन दिया व दवा पिलाई किन्तु कोई लाभ नहीं हुआ। हालत गिरती ही गई। दिन के १२ बजे तक अच्छी तरह से बातें करते रहे। १२ के बाद जीभ अधिक लड़खड़ागई और दो बजे निर्जला एकादशी को शान्त भाव से एक दम बिना किसी परेशानी के ऐसे आंखें बन्द करलीं मानों चिर निद्रामें सो रहे हों।

उस समय मेरी यह लगन और लालसा थी कि किसी तरह अच्छे हो जावें और शरीर को देखते हुए यह विश्वास भी नहीं होता था कि ये इतनी जल्दी मुझ अभागिनी को छोड़ कर चल देंगे। भविष्य के लिये मैं कुछ भी नहीं पूछ सकी कि मुझे क्या करना चाहिये।

इसके बाद कांग्रेस कमेटी के मन्त्री श्री कन्हैयालालजी जियालालजी आदिने उनकी शान के अनुरूप ही दाह संस्कार करा दिया।

इसके बाद मुझे कोई सहारा नहीं दीखा। मैं हताश हो रही थी कि १५ या २० पुस्तकें हस्त लिखित हैं। इनको कैसे छपा सकूंगी। इनके कुछ मित्रों ने कहा कि सारा साहित्य हमें दे दो, हम प्रकाशित करा देंगे। किन्तु यह बात मुझे जंची नहीं।

पतिदेव के खास २ मित्रों ने मुझे अजमेर में रखने की काफी कोशिश की। इनमें प्रमुख हैं डा० अम्बालाल जी क-हैंयालालजी आर्य चौ० शिवनारायणसिंह जी वकील आदि। मेरी भी यही इच्छा थी कि मैं अजमेर में रहूँ। मुझे कुछ कार्य मिल जाय तो उसके द्वारा साहित्य प्रकाशन कर पाती रहूँ। किन्तु अजमेर का निवास मेरे भाग्य में बदा न था। अजमेर सरकार से इसीलिये मुझे कोई सहयोग न मिला।

उस समय उनके पुराने मित्र पूठोली और ओछाड़ी ठाकुर साहब ने मुझे काफी हिम्मत बंधाई और आज भी बंधा रहे हैं। दोनों ठा० सा० ने कहा कि तुम अपनी इच्छानुसार पूठोली और ओछड़ी कहीं भी रह सकती हो और वहां धीरे २ साहित्य भी प्रकाशित करवाते रहेंगे।

उस समय बिजोलिया में कुछ सामान रखा था और मकान भी खाली करना था। सामान लेने व मकान खाली करने में बिजोलिया गई। रास्ते में कोटे ठहरी तो वहां मा० सा० श्री शम्भूदयालजी सक्सेना मिले। उन्होंने मुझे काफी सान्त्वना दी और कहा कि कुछ साहित्य मेरे पास उनका रखा है और भी जो कुछ होगा उसे एकदम नहीं तो धीरे २ करके सारा प्रकाशित करवादेंगे। आप चिन्ता मत करो।

इसके बाद मैं फिर अजमेर गई और वहां चार माह तक परेशान होती रही किन्तु साहित्य प्रकाशन का कोई साधन न दीखा तो हारकर मथुरा ही आना पड़ा। मथुरा में आकर मैं एकदम पागल की तरह हो गई थी। किसी कार्य को करने की इच्छा न थी। यहां चम्पा अग्रवाल कालेज के वायस प्रिंसीपल श्री जगदीशशरणजी व श्रवणलालजी वकील, श्री माता प्रसादजी आदि ने मुझे समझा बुझाकर कार्य में लगाया। यहां अपना वही पुराना अध्यापन कार्य करने लगी।

इसी बीच में हिन्दुस्तान के यशस्वी सम्पादक श्री शोभालालजी गुप्त ने जो मेरे पतिदेव के पुराने साथी व शिष्य है बिना मेरी जानकारी के ही राजस्थान सरकार से साहित्य प्रकाशन के लिये लिखापढ़ी की और एक पथिक साहित्य प्रकाशन समिति बनाई, जिसके सदस्य हैं सर्व श्री गुप्ता जी, बाबाजी नरसिंहदासजी, मा० सा० शम्भूदयालजी सक्सेना, कनक मधुकर, और यह सेविका।

श्री गुप्ताजी के परिश्रम से ही राजस्थान के प्रधान मन्त्री श्री मोहनलालजी सुखाड़िया ने पांच हजार साहित्य प्रकाशन के लिये और दो हजार मेरे निजके निर्वाह के राज्य से स्वीकृत किये। इसमें से दो हजार मेरे और ढाई हजार साहित्य प्रकाशन के लिये तो पिछले साल जून में मिल गये हैं और ढाई हजार इस प्रकाशन का हिसाब देने के बद मिलेंगे।

ढाई हजार जो मिले हैं उन में से अब तक चार पुस्तकों की पाण्डुलिपी हुई है और दो पुस्तकें पथिक प्रमोद और पथिक विनोद छप कर तैयार हो रही हैं। इनका हिसाब देने पर अगली किश्त में प्रह्लाद-विजय जो एक बड़ा ग्रन्थ है छापने की आशा है।

मैं राजस्थान सरकार की ओर उन भाइयों का जिनके नाम ऊपर आये हैं आजन्म ऋणी रहूँगी। इन सबके प्रति मै अपनी कृतज्ञता प्रगट करती हूँ कि जब मैं बिलकुल दुःख समुद्र में डूबी हुई थी और कोई भी सहारा नहीं दीख पड़ता था तब इन सबने तन, मन धन से सहायता करके पूज्यपति के साहित्य प्रकाशन की मेरी चिरसाध को पूरा किया। मैं कृतज्ञ हूँ भूमिका लेखक गुप्त जी की पुस्तक की प्रेस कापी तैयार करने वाले हरिमोहनजी एम० ए० प्रधान की। मुद्रक श्री उमेद प्रेस कोटा की और भाई सक्सेना जी की जिनकी देख रेख में यह सारा प्रकाशन कार्य आदि से अन्त तक हुआ है। मैं सब भाइयों से यही आशा करती हूँ कि अभी तक जिस सहृदयता से सहायता दी है उसी प्रकार आगे भी शेष पुस्तकें प्रकाशित करने में मुझे सहयोग प्रदान कर कृतार्थ करेंगे।

दूसरी प्रार्थना मेरी यह है कि ये जो पुस्तकें प्रकाशित हो रही हैं उन्हें रखने के लिये मेरे पास कोई स्थान नहीं है। अतः मैं चाहती हूँ कि अजमेर या राजस्थान में कहीं भी एक छोटा सा श्री विजयसिंह जी पथिक नाम से पुस्तकालय बन जाय तो अच्छा है जिसमें सारा साहित्य रखा जाय। मुझे पूर्ण आशा है कि इस कार्य में भी मेरे भाई पूर्ण योग देकर मेरी आत्मा को और उस स्वर्गीय आत्मा को शान्ति देंगे।

मथुरा की म्युनिसिपेल्टी के चेअरमेन महोदय को सम्माननीय सदस्यों एवम् कामरेड श्री हरप्रसाद तथा श्री शिवशंकर उपाध्याय आदि को भी हृदय से धन्यवाद देती हूँ कि जिन्होंने मथुरा में मेरे निवास स्थान के समीप की सड़कों का पथिक मार्ग नाम देकर अपने अतिथि का सन्मान प्रदर्शित किया।

जानकी निवास—
पथिक मार्ग
जनरलगंज मथुरा
दिनाँक १५-७-५७

जानकी देवी पथिक
धर्मपत्नी
स्व० श्री विजयसिंहजी 'पथिक'

विषय सूची:-

	पृष्ठ—
१—स्वर्ग में राज्य सत्ता	१
२—सहचरी	२१
३—उच्चता बनाम नीचता	५०
४—वीर पूजा	६१
५—हरिदास	१०८
६—विवाह या व्यापार	१३१
७—अनुपम त्याग	१७४
८—अबला का बल	१८६

१. स्वर्ग में राज्य-सत्ता

राजकुमार गिरवरसिंह अपनी विलासिता की बदौलत राज्य तो खो चुके थे, किन्तु पेंशन पाते जाते थे। यह भी आपकी प्रजा की शिकायतों आगे बन्द हो गई होती, किंतु आपने स्थान परिवर्तन कर दिया, इससे रक्षा हो गई। अब वे बम्बई में रहते थे और यद्यपि आर्थिक तंगी के कारण यहां वैसे रागरंग न होते थे, तो भी दोनों वक्त शराब की तो जरूरत होती ही थी। रही दूसरी बातें, उनका काम स्मृति से चला लिया जाता था। मिलने वालों से प्रायः वे अपने पूर्व-वैभव की ही बातें किया करते थे—"हम यों रहते थे, यों खाते थे, यों खेलते थे।" बस जब जाओ तब यही रागिनी मिलती थी। लोग उनकी इन बातों पर विश्वास करते थे, या नहीं, सो तो ईश्वर जाने, हां उनका नाम उन्होंने "रईसजादा" रख छोड़ा था।

एक दिन रात्रि समय आप नशे में बेहोश, एक मोरी में पड़े कराह रहे थे। एक सुरबाला संयोग वश उधर होकर निकली। स्वभावानुसार अज्ञानी को पीड़ित देख उसे बड़ी दया आई। निकट जाकर देखा कि उसकी नाक छिल गई थी। कपड़े कीचड़ में लथपथ हो रहे थे। मुख से दुर्गन्ध उठ रही थी।

"भोले प्राणी"। सुरबाला के मुख से निकला. "किन दुष्कर्मों के फल से तेरी यह गति हुई है? किसने तुझे नर्क का पानी पिलाया है? किन्तु उत्तर कौन देता? रईसजादा तो बेहोश था। सुरबाला ने दयावश उसे उठाया। समुद्र किनारे ले जाकर उसके अंग-वस्त्र धोये। किन्तु वह

अब भी अचेत था। उसने उसे सचेत करने के कई उपाय किये, किन्तु सब व्यर्थ हुए! सुरबाला चिंतित हुई। पीड़ित को ऐसी अर्द्धमृत अवस्था में छोड़ देना भी बुरा था। फिर उसे सूखे कपड़े पहनाने आश्वयक थे। उसके बीमार हो जाने का डर था। सुरबाला अधिक ठहर भी नहीं सकती थी। तब क्या किया जावे? अन्त में बहुत सोच विचार के बाद वह उसे स्वर्ग में उठा ले गई। एक सुन्दर उपवन में एक स्वच्छ घर था। वस्त्र बदल कर वहीं उसे सुला दिया और अपने काम में लग गई।

* * *

रईसजादे को प्रातःकाल होश आया तो उसने अपने को सर्वथा नई ही दुनिया में पाया। वहां न ऊंचे ऊंच महल थे न किले, न कारखाने न नाटकघर। न सिनेमा न सर्कस। न पनवाड़ियों की दुकानें न सोड़ावाटर की। न मद्य की न शेम्पियन की। न मोटरों की भों भों थी। न रेलों की खड़खड़ाहट। न ट्राम कारों की भड़भड़ न इक्के-तांगों की घड़घड़। वहां था प्राकृतिक सौन्दर्य का हाट और पवित्रता का ठाठ। जिस ओर, जहां तक दृष्टि जाती थी उपवन ही उपवन लगे हुए थे। पुष्प ही पुष्प खिले हुए थे। बीच बीच में अनन्त छोटे छोटे जलाशय भरे थे और उनके किनारे हरे भरे खेतों से घिरे लता-पत्राच्छादित कुटीर खड़े थे। पशु और पक्षी सब, इन कुटीरों और उपवनों में निर्भय विचरण करते थे। पुष्प जैसी देव बालायें और हरिण-शिशु साथ साथ खेलते थे। सुरबालक और कोयलों के बच्चे कण्ठ मिलाकर साथ साथ गाते थे। न कोई किसी से भय खाता था न संकोच करता था।

और सुराङ्गनायें। न वे मांग-पट्टी की शौकीन थीं न आभूषणों की। न विशेष प्रकार के वस्त्रों की न सजावट की। वे मात्र एक एक बिना

सिला वस्त्र साड़ी पहने थी। देखने में वे कमल-नाल जैसी कोमल दिखाई देती थीं, किन्तु उनके व्यवहार और श्रम शक्ति को देखकर बड़े बड़े वीर सहम जा सकते थे। काम करते करते वे क्षण भर के लिए हरिण शिशुओं के साथ खेलने लग जातीं, और फिर काम में जुट जातीं। वे अपूर्व सुन्दरी थीं। आधा दिन नख शिख सजाने में बिताने वाली मृत्युलोक की महिलाऐं उनके सामने पनिहारी सी दिखाई देती थीं वे जब हंसती थीं तब मानों उन सघन लताओं में चांदनी छा जाती थी और जब कार्य करते करते खड़ी होकर लम्बे श्वास छोड़ती थीं, तब मानों वायु सुवासित हो उठती थी।

और उनका आहार क्या था ? इन्हीं उपवनों में पैदा हुए फल-फूल और कन्द-मूल। यहीं अवस्था पुरुषों की थी। फिर एक क्षण भी कोई निठल्ला न रहता था। जिसे देखो किसी न किसी कार्यवश भागा जा रहा था। कोई गृह-कार्य में लगा था, कोई कोई लोक सेवा कार्य में। किसी को किसी डूबते को बचाना था तो किसी को कहीं आग बुझानी थी। किसी को कहीं जल-वृष्टि की व्यवस्था करनी थी तो किसी को कहीं औषधियां पहुँचानी थीं।

* * *

"रईसजादा" "साश्चर्य इन बातों को देख ही रहा था, कि उसे लाने वालीं सुरबाला आई और पूछा, " अब तबियत कैसी है ? ठीक हो तो तुम्हें वापिस पहुँचा दिया जाए। "रईसजादा" समझ गया, कि उसे यहां लाने वाली बाला यही है। उसने कहा, "पहुँचा दिया जाय ? तो फिर मुझे यहां लाने की क्या जरूरत थी ?" सुरबाला ने कहा, "लाना तो इसलिए पड़ा कि तुम वहां अंधकार में अचेत नाली में पड़े थे। तुम्हारे वस्त्र खराब हो गये थे।" फिर वस्त्र दिखाकर कहा "वे अब सूख गये होंगे। अच्छा मुझे काम है। बोलो ठीक हो गए हो तो पहुँचा दूं ?"

रईसजादे को यह अच्छा न लगा। वह सोचने लगा, "ये लोग बिल्कुल जंगली मालूम होते हैं। भला कोई बात है। न कुछ आवभगत् और न कुशल प्रश्न। न परिचय करना न नई पुरानी बातें कहना। आते ही लट्ठ सा मार दिया, जैसे कोई आफत पड़ रही हो।" घर पर ऐसा अवसर आता तो कदाचित् वे अपने इन भावों को प्रकट भी कर डालते। किन्तु यहां अपरिचित स्थान में उन्होंने शान्ति धारण करना ही उचित समझा। आखिर कई महफिलों से निकले हुए थे। साथ ही उन्हें इस स्थान की अभी बहुत सी बातें जाननी थीं। अतः बोले, "नहीं अभी तो मुझे चक्कर आरहे हैं। कदाचित् शाम तक ठीक होजाऊं"

सुरबाला ने कहा, "अच्छी बात है!" फिर कुछ कन्द-मूल लाकर रख दिये और कहा, "इन्हें खाकर सो जाओ। दो पहर को मैं फिर आऊँगी और तब तुम्हारी तबियत ठीक होगी तो तुम्हारे स्थान पर पहुँचा दूँगी।" कह कर जाने लगी, तो रईसजादा बोला, "तनिक ठहर जाओ न? ऐसी क्या जल्दी है? कुछ यहां का हाल चाल तो बताओ?"

सुरबाला घूम कर बोली, "क्यों? हाल चाल जान कर क्या करोगे? इस लोक का नाम स्वर्ग लोक है।"

"यहां के लोग काम क्या करते हैं?"

"काम? काम तो जो कर्तव्य हो वही करते हैं। कोई दुखी हो तो उसका दुख दूर करना। पीड़ित हो तो उसकी सेवा करना आदि।"

"क्यों, ऐसे काम क्यों करते हैं?"

"क्यों करते हैं? यह तो प्रश्न ही मैंने आज सुना है। यह तो धर्म है। इसके पालने से संतोष होता है, सुख होता है, इसलिये।"

"तो बैठ जाओ न?"

"नहीं, बैठूँगी नहीं बिना काम बैठने से लाभ?"

"क्यों बिना काम कोई नहीं बैठता क्या ?"

"नहीं, बिना काम बैठना पाप है। विशेषत: जब दूसरे काम करने को पड़े हैं।"

"किन्तु यहां भी एक काम है और सुखमय काम है।"

"क्या काम है ?"

"तुम बैठो, मैं एक अच्छी रागिनी सुनाऊँगा।"

"रागिनी ? रागिनी सुनने से लाभ ? इस समय गायन और मनोरंजन मेरे जीवन के लिए तो आवश्यक है ही नहीं, दूसरों के लिये भी लाभदायक नहीं है।"

"तब क्या वे ही काम करने चाहिये, जो दूसरों के लिये या अपने लिये अनिवार्य हों।"

"और क्या ? हमारे यहां तो दो ही कर्म निहित हैं।"

"कौन कौन से ?"

"एक तो वे जो हमारे जीवन और स्वास्थ्य की रक्षा के लिये अनिवार्य हों और दूसरे वे जिनसे दूसरों को लाभ पहुँचता हो।"

"ये तो बड़े विचित्र नियम हैं ! मेरी तो समझ में नहीं आते।"

"तो इसका मैं क्या करूँ ? अच्छा, मैं जाती हूँ। मुझे देर हो रही है।" कह कर सुरबाला भाग गई।

रईसजादा सोचने लगा, "कैसे भोले लोग हैं ! पाप-वासनाओं का पता नहीं। अविश्वास का नाम नहीं। स्वार्थ का लेश नहीं। विलास का चिन्ह नहीं। और भूमि कैसी सुन्दर है। जहां तक देखो हरियाली ही हरियाली। फूल ही फूल। सुगन्ध ही सुगन्ध, सौन्दर्य ही सौन्दर्य। ऐसी

भूमि पर राज्य स्थापन हो जाये तो जीवन सफल हो जाये। किन्तु यह हो कैसे ? इन लोगों की तो अवस्था ही विचित्र है।... ..... !"

इसी समय एक सुरबालक सामने से निकला। रईसजादे ने उसे बुलाया। निकट आने पर सामने की बाड़ी में लगा हुआ एक फल दिखा कर कहा, "उसे तोड़ ले।" बालक बोला, "दूसरे की बाड़ी में मैं कैसे हाथ डाल सकता हूँ ?"

"क्यो, इसमें क्या है ? कोई बड़ी कीमत की चीज तो है ही नहीं।"

"न हो, है तो वह चोरी ही !"

"तो क्या तुम्हारे देश में चोरी सर्वथा होती ही नहीं ?"

"नहीं ! हम लोगों ने भी चोरी, झूठ, कपट आदि अपराधों के नाम ही सुने हैं, उन्हें होते देखा कभी नहीं।"

"तो यहां कोई झूठ भी नहीं बोलता ?"

"झूठ क्यों बोलें ?"

"अच्छा, तुम्हारे यहां राजा कौन है ?"

"राजा ? राजा क्या होता है ? कोई पशु होता है क्या ;"

"पशु नहीं, राजा उसे कहते हैं जो सब को ठीक रास्ते पर रखता है। किसी को किसी की चीज नहीं लेने देता। झगड़ा होने पर न्याय करता है।"

"तो हमारे यहां कोई झगड़ा होता ही नहीं, कोई अनुचित मार्ग पर जाता ही नहीं, फिर हम राजा का क्या करें ? अच्छा जाता हूँ, मुझे काम है।" कह कर बालक भाग गया।

रईसजादा फिर विचार मग्न हो गया। उसके सामने फिर वही प्रश्न घूमने लगा। "यहां राज्य किस प्रकार स्थापन हो। इन लोगों के नियमों में तो कहीं गुंजाइश ही नहीं। इनकी आवश्यकता ही दो बातों में मर्यादित है। कन्द-मूल, फल और बिला सिले कपड़े के दो टुकड़े और इन दोनों की पूर्ति ये स्वयं कर लेते हैं। न इनमें चढ़ा बढ़ी का रोग है न ऊँच नीच का। न सुख साधनों का न धन संग्रह का। ऐसी अवस्था में ये तीसरी शक्ति को मान कैसे दे सकते हैं? खैर प्रयत्न तो कर देखना चाहिये।"

(२)

दो पहर हो चुका था। रईसजादा एक नींद लेकर एक कुंज में बैठा पक्षियों का कलगान सुन रहा था। उसके वस्त्र सूख चुके थे। वह एक बढ़िया रेशमी रूमाल को हाथों में लिये उलट-पलट रहा था। सहसा सुरबाला आई और झारी लेकर उपवन को सींचने लगी। रईसजादा कुछ देर तो उसके बोलने की बाट देखता रहा; दो एक बार खांसा भी। किन्तु जब उसने उसकी ओर ध्यान न दिया तो वह रूमाल जेब में रख, स्वयं उसके पास गया। किन्तु उसने फिर भी उसकी ओर लक्ष्य न दिया।

अन्त में रईसजादा और भी निकट जाकर बोला, "लाओ देवि! यह झारी मुझे दो। मैं भर लाऊं। तुम तो प्रातःकाल से ही कार्य व्यस्त हो थक गई होगी।" किन्तु सुरबाला ने यह स्वीकार नहीं किया। वह बोली, "नहीं भाई! यह नहीं हो सकता। तुम तो हमारे अतिथि हो। ये तो हमारे नित्य कार्य हैं। इनमें हमें थकान नहीं होती।"

"तो भी क्या हर्ज है?"

"नहीं भाई! यह नियम विरुद्ध भी है। अपने लिये अपनी सामर्थ्य रहते दूसरों से काम लेना हम लोगों में पाप गिना जाता है। ये

कार्य हम अपने कुटुम्बियों तक से नहीं लेते।"

"किसी भी अवस्था में?"

"नहीं, विशेष अवस्थाओं में तो एक दूसरे को सहायता देते ही हैं। किन्तु साधारण अवस्था में नहीं लेते।"

"यह तो उल्टी रीति है। हमारे यहां तो स्वयं काम न करना बड़प्पन का लक्षण माना जाता हैं।"

बड़प्पन का? तुम्हारा देश, जान पड़ता है बड़ा विचित्र है। हमारे यहां तो यह बड़ा ही नीच कार्य माना जाता है। ऐसा व्यक्ति स्वर्ग से निकाल दिया जाता है।"

"क्यों, आखिर बड़े भी काम करने लगें तो छोटे खायें क्या? वास्तव में तो भगवान ने छोटे बड़े बनाये ही इसलिये हैं कि छोटे काम करें और बड़े उनका पालन करें।"

सुरबाला को यह सुनकर बड़ा कौतूहल हुआ। वह बोली, "तुम्हारा देश तो एक अजायब घर मालूम होता है। हमने तो कभी भूमि इतनी छोटी होती नहीं देखी कि उसमें रहने वालों का उससे पेट न भर सके। रहा काम का प्रश्न सो बड़ों को भगवान ने दूसरों की कमाई पर जीने को बनाया होता तो वह उन्हें गरीबों के समान हाथ पैर क्यों देता?"

"तो क्या तुम्हारे यहां बड़े छोटे नहीं हैं।

"हैं किन्तु ऐसे नहीं हैं। हमारे यहां दो तरह के बड़े हैं। एक तो वे जो अधिक बुद्धिमान और अनुभवी हैं। वे शिक्षक का काम करते हैं। और दूसरे वे जो सबसे अधिक उच्चश्रेणी की लोक सेवा करते हैं। किन्तु बड़प्पन का साधारण चिन्ह हमारे यहां अपने भरण-पोषण के लिये दूसरे को किंचित् भी कष्ट न देकर औरों से अधिक पर-हित-साधना ही माना जाता है।"

इस उत्तर से रईसजादे का मुंह बन्द हो गया। वह सोचने लगा "ये लोग भी कैसे विचित्र प्राणी हैं ? इनके जीवन नियम कैसे विचित्र हैं ? कहीं विकार प्रवेश की जगह ही नहीं। छिद्र का नाम नहीं।" किंतु वह सहज में हताश हो जाने वाला न था ! इसलिए उसने इस प्रसंग को छोड़कर दूसरी बात छेड़ी। सुरबाला बाड़ी का कूड़ा-कचरा साफ करने में लगी थी, इसलिए अवसर भी अच्छा था, उसने कहा—

"किन्तु देवि ! क्षमा करना, कितनी ही बातों में तो तुम्हारा देश सर्वथा 'जंगली है।"

"जंगली ? सो कैसे ?"

"और क्या, यहां लोगों को न अच्छा खाना आता है न अच्छा पहनना ."

"अच्छा खाना-पहनना ? अच्छा खाना-पीना-पहनना और कैसे होता है ? हम लोग तो अच्छा खाना पहनना उसे समझते हैं जिससे स्वास्थ्य अच्छा रहे, आयु बढ़े, शरीर सुरक्षित रहे, और ये बातें हमारे वर्तमान खाने पहनने से पूरी हो जाती हैं।"

"कई प्रकार का भोजन बनाकर भिन्न रसों का आस्वादन करना और इसी प्रकार नये नये किस्म के कपड़े पहनना भी तो एक सुख है।"

"सम्भव है हो, किंतु वह जीवन के लिए अनिवार्य न होने से निरर्थक तो है ही, अस्वास्थ्य कर भी होगा। ऐसे लोगों की आयु अवश्य कम होती होगी।"

"तुम्हें यह कैसे मालूम है ?"

"पिताजी कहा करते हैं।"

"अच्छा तुम्हारे यहां लोगों की आयु कितनी होती है।

"३०० वर्ष से १००० वर्ष तक, और कितने ही तो अमर होते हैं। *

रईसजादे की तो आंखें चढ़ गईं। उसने समझ लिया कि उसकी बातचीत का यह आधार बिल्कुल निर्बल है। अतः उसने बात को दूसरे पहलू पर फिराना चाहा। इधर सुरबाला का बाड़ी का काम समाप्त हो गया और वह कुटीर की ओर चली। रईसजादा भी साथ हो लिया। वह चर्खा लेकर कातने बैठी। रईसजादा बोला, "एक क्षण भर तो सुस्तालो फिर काम। काम ही काम। यह आप लोगों की कैसी धुन है?"

"सुरबाला बोली, "सुस्ता कर क्या करना है? निठल्ला रहना क्या कोई अच्छी बात है?"

"आखिर सुख के लिए ही तो मनुष्य श्रम करता है, और सुस्ताने में सुख है।" सुरबाला को बड़ा आश्चर्य हुआ, "वह बोली—

"तुम्हारी बातें हम लोगों के लिए बड़ी विचित्र हैं। हम लोग तो कर्म में ही सुख समझती हैं। और कोई सुख आज तक हमारे देखने में नहीं आया। हमें तो घड़ी भर काम न हो तो वह घड़ी पहाड़ जैसी दिखाई देने लग जाती है।"

---

* "अमर होते हैं?"

"हां, जिनके संचित पाप नष्ट हो जाते हैं, वे अमर हो जाते हैं। उन्हें जन्म धारण नहीं पड़ता।"

"कब तक?"

कल्पान्त तक। फिर मोक्ष हो जाता है?"

"किन्तु संसार में और भी बहुत से सुख हैं और यदि उन्हें जाने दें तो भी तुम्हारे वर्तमान कार्य ही विशेष सुखमय बन सकते हैं।"

"किस तरह ?"

रईसजादे ने जेब से रूमाल निकाल कर सुरबाला को दिखाते हुए कहा, देखो ऐसे वस्त्र पहनने में अधिक सुख है या तुम्हारे जैसे।"

यह भी वस्त्र हैं और वह भी वस्त्र है।" सुरबाला ने इच्छा न रहते हुए भी रूमाल हाथ में लेकर देखा। आखिर वह एक नई वस्तु थी। किन्तु इसमें कुछ विशेष सुख है, यह उसकी समझ में न आया। उसने सरलता पूर्वक रूमाल वापस देते हुए कहा, "इसमें क्या विशेष सुख है, उल्टे इससे तो हमारे बनाए वस्त्र अधिक चलते हैं।

रईसजादा बोला, "दूसरों से बढ़ चढ़ कर कोई वस्तु अपने पास रखने में भी तो एक प्रकार का सुख है ?"

"मेरी समझ में तो यह बात नहीं आती।"

"अच्छा इसमें तुम्हारी कुछ हानि तो है नहीं। आज इसरूमाल को ले जाओ और देखो कि तुम्हें कुछ विशेष सुख होता है या नहीं।"

"किन्तु इससे लाभ क्या ?"

"हानि भी क्या है ?"

आखिर कौतुहलवश सुरबाला ने वह रूमाल ले लिया। कातना समाप्त कर वह रूमाल लिये दूसरे कामों के लिए बाहर गई। रास्ते में कुछ और सखियां मिली और प्रत्येक रूमाल को देख २ कर सराहने लगी। सुरबाला को सचमुच एक विशेष प्रकार के सुख का अनुभव होने लगा। अब वह उसे विशेष रूप से दिखाती हुई चलने लगी। फलतः नई वस्तु को देखने के लिए उत्सुक सखियों की भीड़ भी बढ़ने लगी और साथ ही साथ रूमाल संबन्धी प्रश्नों की संख्या भी। इस आलोचना

और देखा देखी में सुरबालाओं का बहुत सा समय व्यर्थ नष्ट होगया और उनके कई काम अधूरे रह गये।

बुराई का बीज वपन होगया। कई सुरबालायें ऐसा रुमाल बनाने को उत्सुक होगईं। कई बनाने का अवकाश न देख उसकी प्राप्ति के उपाय सोचने लगीं। कईयों के मन में तो उसे चुरा लेने तक की भावना पैदा हुई, किंतु उनके प्रबल धार्मिक संस्कारों ने उन्हें दबा दिया। कितनी ही रुमाल रखने वाली सुरबालासे उसकी इस विशेषता के लिये ईर्ष्या करने लगीं।

अब उसे बनाने के विधान की खोज हुई। विधि पूछने के लिये सब रईस जादे के पास एकत्र हुईं। रईसजादे ने रेशम के कीड़े पालने उनके रेशम का जाल तनने और फिर उन्हें उबाल कर रेशमी वस्त्र बनाने की विधि बताई। सुनकर सुरबालाओं के होश उड़ गये। वे चिल्ला उठीं "इतनी हिंसा! इतने से रुमाल के और व्यर्थ सुख के लिये इतने प्राणियों का नाश! यह हमसे न होगा। हमें ऐसी वस्तुऐं न चाहिए।" रईसजादे ने देखा कि खेल बिगड़ा। झट बोला, "अच्छा तुम्हें ये बने बनाये मिल जायें तो?"

"पाप तो फिर भी होगा ही!" एक ने उत्तर दिया!

"होगा, जो करेगा उसे। वह तो वैसे भी करता ही है।" रईसजादे ने उत्तर दिया। भोली बालिकाएं गड़बड़ी में पड़गई। रईसजादे ने फिर कहा, "इसके सिवाए एक ऐसा ही वस्त्र बिना हिंसा के भी तैयार होता है। उसकी विधि मैं कल बताऊंगा।

सुरबालायें चली गई।

आज रईसजादे को लाने वाली सुरबालाने भी वापिसप हुँचाने का नाम नहीं लिया। चुपचाप फल आदि रखकर चली गई। किन्तु कोई भी सुखी न थी। इस घटना ने सब के मन में एक नई इच्छा और अशान्ति

पैदा करदी थी। उधर सबको यह बात अपने गुरुजनों से गुप्त रखनी पड़ी। यद्यपि उनमें से किसी ने झूठ नहीं बोला, तथापि आत्मीयों से गुप्त रखने का उनके लिये यह पहला ही अवसर था।

और यह उन्हें बृश्चिक दंशन की तरह दुख देने लगा। उस रात्रि को कोई सुख की नींद न सो सकी। कोई कोई सोचने लगी जब एक नई इच्छा का यह परिणाम है तो मृत्यु लोक के लोग, जिनमें यह अनन्त इच्छायें बताता हैं, कितना दुखमय जीवन बिताते होंगे ?" कोई दूसरे दिन न जाने का विचार करने लगीं, किन्तु लोभ संवरण न हो सका।

नियत समय पर फिर सब एकत्र हुईं। आज वैसे भी कोई आधा काम भी न कर सकी थीं। बातें छिड़ीं, एक ने पूछा—

"तुम्हारे देश के लोग भी हमारी तरह ही दूसरों की सेवा में रत रहते हैं क्या?"

"नहीं हमारे यहां यह बीमारी नहीं है। हमारे यहां सब अपनी सुख बृद्धि में रत रहते हैं। अपने सुख के लिए नित्य नए साधन पैदा करते हैं।"

"किन्तु सबसे बड़ा सुख तो दूसरों को सुखी करने में है इसके लिये वे कुछ नहीं करते क्या ?"

"करते हैं! आखिर सभी तो सब काम नहीं कर सकते। कोई दूसरों के लिए सुख साधन तैयार करता है, कोई मनोरन्जन की सामग्री कोई औषधियां। फिर जिसको जरुरत होती है उसे कीमत लेकर बेच देते हैं!"

"बेच देते हैं ? तुम्हारे यहां क्या २ बेचा जाता है ?"

"सब चीज बेची जाती है। विद्या, पुस्तकें, कविता, औषधियां भूमि, मकान, जंगल, पहाड़, मोती, रत्न, सब ?"

सुरबालाओं के तो मुंह खुले के खुले रह गये। वे आश्चर्य में डूब गईं। कहने लगीं "कैसा विचित्र देश है। वहां लोग ईश्वर और प्रकृति की दी हुई और बनाई हुई चीजों को भी बेचते हैं। उन पर उनका क्या अधिकार है ?"

फिर एकने रईसज़ादे से पूछा "और लोग इन चीजों के मालिक कैसे बनते हैं ?"

"जबरदस्ती से ! जिसके पास अधिक शक्ति होती है वही निर्बल से छीन लेता है !"

सुरबालायें चकित होकर एक दूसरी की ओर देखने लगीं।

एक बोली—"जान पड़ता है ये लोग एक प्रकार के पशु हैं।"

दूसरी ने कहा, "नहीं, पशु वस्तु संग्रह के लिए कब लड़ते हैं ?"

तीसरी ने कहा. "तो दैत्य होंगे ,"

इधर चौथी ने रईसजादे से फिर प्रश्न किया, "तब जिसके पास मोल लेने को धन न हो या शक्ति न हो वह इन प्रकृत लाभों से वन्चित भी रहता होगा ?"

"हां रहता ही है। मुफ्त में तो कौन किसको देता है ?" रईसजादा बोला।

"और तुमको वह मदिरा किसने पिलाई थी ? किस अपराध के लिए पिलाई थी ?" लाने वाली सुरबाला ने पूछा !

"वह ? वह भी मोल बिकती है। मैंने मोल लेकर पी थी।" रईसजादे ने कहा।

सुरबालाओं के आश्चर्य का ठिकाना न रहा। ताली पीटकर बोली, "बाप रे बाप, कैसे मूर्ख लोग हैं? ऐसी खराब चीजें भी बेचते और धन देकर लेते हैं?"

"तो वहां धर्म ध्यान क्या खाक होता होगा?" एकने कहा।

"धर्म तो हम लोग खूब करते हैं।" रईसजादे ने कुछ अभिमान के साथ कहा!

"किस तरह. करते हो"?

"हम मन्दिर बनाते हैं। उसमें एक मूर्ति रखते हैं। एक पुजारी या महन्त रखते हैं, फिर मन्दिर में हमेशा पूजा होती है और उसे धन-संपत्ति भेंट किया जाता है।"

"और उस धन संपत्ति का क्य होता है?"

"यह पुजारी या महन्त की मर्जी पर रहती है। वह खुद भी खर्च करता है और ब्राह्मणों आदि को खिलाता है!"

"किन किन कामों में खर्च होता है?"

"भगवान के लिए सेवक, चपड़ासी, फौज हाथी-घोड़े, पालकी सब रखने पड़ते हैं कि नहीं?"

सुरबालाऐं खिलखिला कर हंस पड़ी। कहने लगीं. "कैसे आदमी हैं। भगवान् की ही चीजें एक आदमी को दे देते हैं। न उनसे किसी दुखी का दुख मिटता है न किसी को ज्ञान मिलता है, और इसको कहते हैं धर्म!"

"तब तो वह एक प्रकार के पागलों का देश है। "एक ने कहा नहीं नहीं वह साक्षात नर्क है।" दूसरी बोली। इस पर रईसजादे कुछ बिगड़े। बोले नर्क?"

"नर्क नहीं तो क्या ? इतने कामों में एक भी महत्वपूर्ण नहीं। सब जैसे पागलों की कथाऐं हैं।" तीसरी ने कहा।

"महत्वपूर्ण ? महत्वपूर्ण कार्य तो हमारे यहां बहुत होते हैं। प्राय: महत्वपूर्ण बातों पर ही युद्ध हो पड़ते हैं।"

युद्ध ? यह फिर कौनसी बला है ? यह कैसे होता है ?

"तुम नहीं जानतीं! युद्ध सबसे महान कार्यों में से एक है। उसमें सबसे अधिक व्यय होता है। लाखों मनुष्य एकत्र होते हैं।"

"फिर" ?

"फिर एक दूसरे को मारते हैं, मरते हैं!"

"मारते हैं ? क्यों?" सुरबालाओं का मानो दम घुटने लगा।

"राज्य छीनने के लिये! धन छीनने के लिये?" रईसजादे ने कहा।

"और राज्य धन का क्या करते हैं ?"

उनसे सुख साधन बढ़ाते हैं ?

"यह हमेशा होता है ? हमेशा मारते मरते हैं ?"

"नहीं, मनुष्य तो केवल युद्ध में मारते-मरते हैं। हां, पशु हमेशा मारे जाते हैं ?"

"क्यों ?"

"खाने को" ?

"बाप रे बाप ? तब तो वह राक्षसों का देश है। तुम्हारे यहां यह हत्याकाण्ड महान कार्य माना जाता है ? ओह। ओह !!

"सुरबालाओं के हृदय हिल उठे।

एक बोली—

"जो लोग इन अनावश्यक सुखों के लिये ऐसे कर्म करते हैं उनका तो मुंह भी न देखना चाहिए।"

दूसरी बोली, "मेरा तो सुनकर ही जी न जाने कैसा होने लग गया।"

रईसजादे ने देखा मामला बिगड़ा। उधर सुरबालायें उठकर जाने को तैयार हुईं। अतः उसने बात का रूख पलटा। बोला, "खैर जिनकी बातें जो जानें। तुम तो अपने काम की बातें सुनो। देखो, मैंने आज कुछ नई चीजें बनाई हैं।"

सुरबालाओं को अब यद्यपि उससे घृणा होचली थी, तथापि नवीनता के प्रलोभन से ठहर गईं।

रईसजादे ने अपना जादू फूंका। किसी के मस्तक पर बिन्दी लगाई। किसी को फूलों का गहना पहनाया, फिर पानी में मुख देखने को कहा। सुरबालायें जल में मुंह देख कर हंसने और चकित होने लगीं अब देखने से उनकी इच्छा ही न भरती थी। अवश्य ही इस शृंगार और उससे प्राप्त होने वाले सुखकी उपयोगिता उनकी समझ में न आती थी। फिर भी उसमें मानों एक प्रकार का आकर्षण या-विष था, जो निरन्तर उन के मन पर अपना कुप्रभाव फैला रहा था।

(३)

आज सारे सुरपुर में खलबली मची हुई है। कई दिनों से देवगणों के गृह कार्यों में बराबर गड़बड़ी हो रही है। कभी कोई काम अधूरा रह जाता है तो कभी कोई बिगड़ जाता है। कोई काम किया ही नहीं जाता तो कोई उल्टा कर डाला जाता हैं। इसके फल से देवताओं के विश्व सेवा सम्बन्धी कार्यों में तो व्याघात होता ही है. आन्तरिक कार्यक्रम में भी घपला मच जाता है और परिणाम स्वरूप उसका प्रभाव सारे विश्व पर पड़ता है।

इस अवस्था पर विचार करने को सब प्रमुख देवगण एक चौगान में एकत्र हुए। पंचायत जुड़ी। खोज पूछ आरम्भ हुई। सुरपुर में झूठ और कूटनीति का प्रचार न होने से वहां स्वभावतः ही मामले सरलता से और शीघ्र निबट जाते हैं। अतः इसमें भी अधिक देर न लगी। सबने कहा, "अमुक देव कन्या के पास कोई पदार्थ-विशेष है। बस उसी के लिए सब सुरबालायें कार्य छोड़ उसके घर बैठी रहती हैं! वह भी प्रायः चिन्ता मग्न रहती है। दिन भर न जाने क्या बनाया बिगाड़ा करती है।"

अब सुरबाला बुलाई गई। एक बोला, "भाई? ऐसे विकार तो आज तक स्वर्ग में नहीं सुने गये।"

दूसरा बोला, "अवश्य किसी पतित आत्मा ने इस भूमि में प्रवेश किया है?"

तीसरा भगवान् से स्वर्ग की पवित्रता का रक्षण करने की प्रार्थना करने लगा। सुरबाला का मानो ये बातें सुन सुनकर रक्त सूखने लगा। वह अपने को ही सारे अनर्थों की जड़ मानकर धिक्कारने लगी।

अन्त में प्रश्न शुरु हुये। सुरबाला ने डरते २ सब बात कहीं। सुनकर बृद्धों ने सिर हिलाया। एक बोला, "यह सब उपद्रव उसी का है?"

दूसरा बोला, "वह अवश्य कोई राजा, नवाब या सेठ होगा?"

तीसरा बोला, "हां, साधारण मनुष्यों में ये दुर्गुण ऐसी मात्रा में नहीं पाये जाते?"

चौथा बोला, "किन्तु उसे बुलवाकर पूछताछ करनी चाहिये। देखें, क्या गुल खिलता है?"

यह बात सबको पसन्द आई।

फिर क्या था? पांच छह युवा दौड़े और रईसजादे को पकड़ लाये रईसजादा तो बारह पाटी पढ़ा हुआ था। बोला, "मैं क्या जानूं? मेरा इस मामले से कोई सम्बन्ध नहीं है।"

किन्तु स्वर्ग में झूठ की दाल कहां गलती थी ? अतः जब सब देवबालाओं ने उसके सामने सब सच्ची सच्ची बातें कह दीं तब रईसजादे को भी स्वीकार करना पड़ा।

बृद्धों ने कहा, "ठीक है ? जब तुम रईसजादे हो तो तुम्हारे लिये सब सम्भव हैं। तुम्हारा तो काम ही है संसार में अशांति फैलाना ! तुम्हारी ही बदौलत पृथ्वी पर एक भाई दूसरे का गला नापता है ; सुखमय संसार दुखमय बना रहता है। किन्तु यदि तुमने यह समझ लिया था कि स्वर्ग में भी तुम्हारे सम्प्रदाय को जगह मिल जायेगी, तो यह तुम्हारी भूल थी। स्वर्गवासी इस नाम के किसी पशु पक्षी को भी अपने यहां जगह नहीं दे सकते। ये मृत्युलोक के मूर्ख ही हैं, जो तुम्हारी चालों को नहीं समझते ! यदि भला चाहते हो तो आयन्दा कभी ऐसा न करना !"

इस पर दूसरा बोला, "तो क्या आप इसे योंही छोड़ देना चाहते हैं। नहीं, ऐसा नहीं हो सकता। इसे अवश्य कठोर दण्ड मिलना चाहिए। इसने एक सुरबाला की दया और सेवा भावना का दुरुपयोग किया है। भलाई के बदले बुराई की है।"

"और फिर झूठ बोला है ?" तीसरे ने कहा ?

अबतो रईसजादे घबराये ? वे प्रत्येक के हाथ जोड़ने और पैर छूने लगे। अन्त में सरपन्च ने फैसला सुनाया उसने कहा:—

"देवगण ? इस मामले का पूरा विचार कर हम इस निर्णय पर पहुँचे हैं कि सुरबालायें निर्दोष हैं। हां, इस मनुष्य के दुष्प्रयत्नों से उनके उनके मन में कतिपय विकारों का बीजारोपण होगया है और उससे उनका मुक्त किया जाना आवश्यक है, अतः जिन्हें अपनी कृति पर पश्चाताप हो उनसे प्रायश्चित कराया जाये और जब वे अपने हृदय का पवित्र होना स्वीकार कर लें तब शुद्ध मान ली जायें। किन्तु, यदि किसी को

अपनी कृति पर पश्चाताप न हो और वह शुद्ध न होना चाहे, तो वह स्वर्ग से निकाल दी जाये।

रहा रईसजादा, उसके अपराधी होने में कोई सन्देह नहीं, किन्तु वह क्षमा मांग रहा है। ऐसी अवस्था में उसे दण्ड नहीं दिया जाता। आप भी इसे क्षमा करिये। इसका इसे कर्म न्याय से जो दण्ड मिलेगा वही पर्याप्त है। हां, भविष्य के लिए हम यह आवश्यक समझते हैं कि मृत्यु लोक के पूंजीपतियों और सामन्तों का स्वर्ग में आना सर्वथा रोक दिया जाय।"

तभी से यह किंवदन्ती प्रचलित है कि "सुई के नाके में ऊंट में से भले ही निकल जाये धनिक स्वर्ग में नहीं घुस सकते!"

२. सहचरी

"नहीं, तुम्हें एक प्याला तो लेना ही पड़ेगा।" अमरचन्द ने कुछ जोर देकर कहा।

"नहीं स्वामी, यह नहीं हो सकता! आप स्वतः चाहे जैसा आचरण कर सकते हैं, किन्तु मुझे बाध्य करना आपका धर्म नहीं है, प्रायः उतनी ही दृढ़ता से कमला ने उत्तर दिया।

अमरचन्द के मस्तक में सलपड़ गए। वह कुछ अधिक कटु स्वर में बोला, "तो क्या पति की आज्ञा उलंघन करना धर्म है? तुम पढ़ी लिखी हो। विदुषी हो। क्या तुम इतना भी नहीं जानतीं?

कमला ने अमरचन्द का पारा चढ़ते देखा तो कुछ सहमी और शान्त भाव धारण करती हुई बोली "मैंने कब आपकी किसी उचित आज्ञा का उलंघन किया है?

क्यों, यह आज्ञा उलंघन नहीं है क्या?"

"यह तो आज्ञा ही अनुचित है स्वामी! ऐसी धर्म विरुद्ध आज्ञा तो आपको स्वयं ही नहीं देनी चाहिये!

"अच्छा तो अब तुम मुझे धर्म-अधर्म का भी पाठ पढ़ाओगी?" अमरचन्द ने कुछ अधिक चिढ़ कर कहा।

कमला ने कहा, "इसमें [पाठ पढ़ाने की क्या बात है? यह तो धार्मिक विश्वास का प्रश्न है। जब मुझे] मदिरापान की उपयोगिता

और आवश्यकता पर विश्वास नहीं है, तो आप मुझे क्यों वा
करते हैं ?

किन्तु अमरचन्द आज कमला का धैर्य तोड़ने पर तुला था
इसीलिये इस उत्तर से निरुत्तर हो जाने पर भी बोला,

"तुम्हें न हो, मुझे तो विश्वास है।"

किन्तु कमला फिर भी शांत रही। उसने कहा, "आपको है
आप पीते ही हैं। मैंने कभी आपकी इस स्वतन्त्रता में बाधा
है क्या ?"

"इसका मतलब ?"

"मतलब यही कि पुरुष-स्त्री जहाँ एक दूसरे के प्रति अपने धार्मि
और सांसारिक कर्तव्य पालन करने में एक दूसरे पर निर्भर है, वहां उ
क्षेत्र के बाहर स्वतन्त्र भी है। इसीलिये इन बातों को अधर्म मानती हूँ
कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी सीमा के भीतर स्वेच्छानुसार रहना क
अधिकार है।"

अमरचन्द ने सोचा, कदाचित यह इस प्रकार मुझे असहिष्णु
बता कर लज्जित करना चाहती है ! अतः वह बोला,

"तो क्या मैं अपने विश्वास के विरुद्ध तुम्हारे चर्खा, खादी, कृषि
और स्त्री सुधार सम्बन्धी पचड़ों को सहन नहीं कर रहा हूँ ?"

तो मैं इसे कब अस्वीकार करती हूँ स्वामी ! वास्तव में तो सच्ची
स्वतन्त्रता है भी तो वही जो दूसरों को भी समान स्वतन्त्रता देती हो
और इसलिये मैं इस विषय में भी आप से सहिष्णुता की भिक्षा
मांगती हूँ।"

"भिक्षा ? भिक्षा कहां, तुम तो इसे अधिकार बता रही हो।"

"तो आप इतने क्रुद्ध क्यों होते हैं। अधिकार तो वह है ही....."

किन्तु अधिकार का नाम सुनकर अमरचन्द का पारा और भी चढ़ गया। वह बीच ही में बोल उठा, "अधिकार है तो फिर भिक्षा कैसी ?"

कमला बोली, "प्रेम के क्षेत्र में अधिकार की भी भिक्षा मांगी जा सकती है। आप उसे अधिकार नहीं, भिक्षा ही मानकर दे दीजिये ?"

अमरचन्द ने मन में कहा, "हूँ। मैं खूब समझता हूं। तू कल की छोकरी मेरे साथ "डिप्लोमैसी" चलती है। भिक्षा की आड़ में मुझ से अपना अधिकार स्वीकार कराना चाहती है। नहीं, मैं ऐसे फंदे में आने वाला नहीं हूँ। प्रगट बोला,

"नहीं मैं यह भिक्षा न दूंगा। यदि मेरा तुम्हारा सम्बन्ध रहना है तो तुम्हें मेरी दो बातें माननी ही पड़ेंगी।"

"कौन सी दो बातें ?"

"एक तो अपना खाना-पहनना मेरी इच्छानुसार रखना और दूसरे इस स्त्री सुधार के पचड़े से हाथ खींच लेना।"

"स्त्री सुधार से भी ? स्त्री सुधार आपको क्या हानि पहुँचाता है ? "कमला ने विस्मित होकर कहा।

"हानि न पहुँचाता हो, इससे क्या ? आखिर स्त्रियों को स्वावलम्बी बनाने की आवश्यकता भी क्या है ? क्या पुरुष उनका पोषण नहीं कर सकते ?"

"पोषण कर सकते हों तो भी क्या हुआ ? स्वावलंबन तो सब के लिए अच्छा ही है। स्वावलंबी स्त्री समय असमय पुरुष की सहायता कर

सकती है। उसकी अनुपस्थिति में कुटुम्ब पोषण कर सकती है। उसका पति उसके और बच्चों के भरण-पोषण के सम्बन्ध में निश्चिन्त रहस कता है। दूसरी ओर वह परावलम्बिनी हो तो पति के गले का बोझ हो पड़ती है।"

"कहां, मैंने तो कोई स्त्री पति के गले का बोझ होती नहीं देखी।"

"आपने नहीं देखी, सो तो स्वाभाविक है। कारण आप सम्पत्ति शाली हैं। यह तो निर्धनों से पूछिये, जो स्त्रियों के ही कष्टों के भय के कारण देश और धर्म की सेवा से वंचित रहते हैं। उन्हीं की आवश्यकतायें पूर्ण करने को नीच कर्मों का आश्रय लेते हैं! अन्याय और अधर्म को चुप चाप सहते हैं।"

तो जिन्हें जरूरत हो वे करें?"

"करें किन्तु अवकाश और साधन कहां हैं। उन्हें विचारों को तो पेट की हाय-हाय से ही अवकाश नहीं मिलता।"

"तो दूसरों की क्या गरज पड़ी है जो उनके लिये पचें?"

"गरज न सही दूसरों का कर्तव्य तो है। आखिर उनकी इस अवस्था को पैदा करने वाले तो हम ही हैं।"

"हम? हम कैसे हैं?"

"हम नहीं तो और कौन है? आखिर हमारी नकल ही तो गरीब करते हैं?"

"तो हम उनसे नकल करने को कब कहते हैं?

"न कहें तो भी बड़ों का अनुकरण करना लोगों का स्वभाव है। इसके अतिरिक्त हम पढ़े लिखे हैं और उनकी भलाई बुराई के उपाय सोच सकते हैं। वे अज्ञान हैं। अतः हमें ऐसा आचरण....."

अमरचन्द बीच में बोला, "खैर मेरी समझ में तुम्हारा दर्शन शास्त्र नहीं आता। मैं तो यही समझता हूँ कि स्त्रियों का स्वावलंबन दम्पत्ति प्रेम का नाशक है और इसलिये यह प्रवृत्ति बन्द कर देनी चाहिये।"

कमला ने सोचा, "ये इस समय नशे में धुत्त तो हैं हीं जिद पर भी चढ़े हुए हैं। अतः विवाद करना व्यर्थ समझ उसने कहा, "अच्छा, अभी तो आप शयन करिये! प्रातः देखा जायेगा।"

किन्तु अमरचन्द को तो भूत चढ़ा था। वह बोला, "नहीं अभी स्वीकार करो। मैं आज इस झगड़े को तय करके ही यहां से उठूंगा।"

कमला बात बढ़ती देख कमरे से बाहर चली गई। अमरचन्द भी थोड़ी देर तो उसके लौटने की बाट देखता रहा किन्तु जब वह न लौटी तो झुंझला कर कहने लगा, "ओह यह सब इस स्वावलम्बन की प्रवृत्ति का नतीजा हैं। भला, ये लोग कहीं स्वतन्त्रता के योग्य हैं?

ढोल, गंवार, शूद्र पशु नारी,।
ये सब ताड़न के अधिकारी॥"

कह कर उसने फिर एक प्याला गले में उतारा और सिगरेट सुलगाकर फक फक धुंआं फेंकता हुआ बिस्तर पर जा लेटा।

(२)

कहना व्यर्थ हैं कि अमरचन्द और कमला वैश्य जातीय दम्पत्ति हैं। दोनों ही सुशिक्षित हैं। दोनों ही सम्पन्न घरों की सन्तान हैं। अमरचन्द एक सुडौल शरीर वाला सुन्दर युवक है। बड़े घरों के लड़कों के सभी लक्षण उसमें पाए जाते हैं। सिर पर अलबर्ट फैशन के बाल रखता है। आंखों पर सुनहरी कमानी का चश्मा लगाता है। नंगे बदन तो कभी रहता ही नहीं "विदेशी भक्त भी पूरा हैं। फिर भी वह नवयुवक मण्डली में एक जोशीला देश भक्त गिना जाता है। इसका कारण है

उसकी भाषण दक्षता। सभासमितियों में जाने का उसे बचपन से ही शौक था। धीरे २ भाषण देने में दक्ष होगया और मञ्च पर उसकी धाक जमने लगी। इधर उसके पिता अमरचन्द यद्यपि जमीदार होने के कारण राजनैतिक मामलों से दूर ही रहते थे, तथापि बनारस शहर में रहने से उन्हें नामवरी का चस्का लग गया था। फलतः वे प्रायः अराजनैतिक संस्थाओं में जाने के लिये अमरचन्द को प्रोत्साहित किया करते थे सार यह कि सार्वजनिक क्षेत्र में जो कुछ उसकी प्रतिष्ठा थी, वह इस भाषण शक्ति ही के कारण थी बोलने का कुछ उसे ऐसा अभ्यास होगया था कि हजार इच्छा न होने पर भी राह जाते लोग उसका भाषण सुनने को खड़े हो ही जाते थे। किन्तु भीतरी जीवन में यह बात न थी धनाढ्यों को दुर्गुणी स्वभावतः ही घेरे रहते हैं। अतः उन्होंने अमरचन्द के सुधार प्रिय स्वभाव का भी दुरुपयोग किया। उन्होंने उसे यह विश्वास दिला दिया कि वैश्यों की सारी कमजोरी का कारण उनका मांस मद्य से दूर रहना हैं। अमरचन्द भी अनुभवहीन युवक तो था ही, उनके कहने में आगया। किन्तु ये बातें समाज से तो गुप्त ही थीं। समाज तो केवल उसके बाह्य गुणों से परिचित था। फिर भी अमरचन्द के इन्ही बाह्य गुणों पर मुग्ध होकर कालीचरण वकील ने उसे अपना जामाता बनाया था।

उधर कमला का स्वभाव सर्वथा दूसरे ही ढंग का था। जहां अमरचन्द स्वतन्त्रता का भक्त रहने जाकर उच्छृंखलता का भक्त बन बैठा था, वहां कमला ने सच्चे स्वतन्त्र वायुमण्डल में शिक्षा पाई थी। यही क्यों, कहा जा सकता है कि शिक्षा की अपेक्षा भी वायुमण्डल का उसके चरित्र निर्माण में विशेष भाग था। इसका कारण था कमला के

कुटुम्ब का विचित्र संगठन।

कमला का कुटुम्ब क्या था—पचमेल खिचड़ी थी। उसकी माता कट्टर गांधी-भक्त थी और दादी कट्टर सनातनी छुआछूत मानने वाली और पिता सब में थे मुवक्किलों का सौदा पटाते समय वे पाश्चात्यनी

प्रवीण थे और धन व्यय करने में सच्चे धार्मिक गृहस्थ। वाह्य संसार में वे विश्व बंधुत्व की दृष्टि से व्यवहार करते थे और गृह में उदार शासक की दृष्टि से।

सहिष्णुता मानो इन सब में कूट कूट कर भरी थी। कमला की माता अछूतों को छूकर हाथ भी न धोती थी, किन्तु दादी स्नान तो करती ही कपड़े भी बदलती थी। उसकी दादी स्त्रियों को घर की चार दीवार और पर्दे के भीतर रखने के पक्ष में थी और माता इनके विरुद्ध दोनों ये अपने विश्वासों पर पूरा आचरण करती थीं। फिर भी न कभी दोनों लड़ती थीं न एक दूसरी की आलोचना करती थीं। यदि कभी कोई दूसरी स्त्री इस संबंध में बात छेड़ भी देती, तो वे कह देती, "इसमें क्या है' ये तो अपने अपने विश्वास की बातें हैं। जिसे जैसा बिश्वास हो उसे वैसा आचरण करना ही चाहिए, आवश्यक केवल यही है कि दूसरे की स्वतन्त्रता में हाथ न डाला जाए। अपने ही क्षेत्र में अपने विश्वासो का अनुगमन हो।"

और वकील साहब तो अपराधी को भी सहन कर लेते थे। यदि अपना अपराध स्वीकार कर लेता तो वे चोरी करने पर भी नौकर को न निकालते थे। वे कहते थे कि जब तक मनुष्य सत्य बोलता हैं, झूठ बोलने में पाप जानता है और दोष को दोष मानने एवम् समझाने योग्य है, तब तक उसका सुधार असाध्य न मानना चाहिए?" ये बातें भी केवल कहने भर की न थीं। कितनों ही को उन्होंने सुधारा भी था।

कमला अपने सुन्दर रूप के साथ अपने कुटुम्ब के इन्हीं सब गुणों की प्रतिनिधि थी। उसमें यदि कुछ विशेषता थी. तो यही कि वह स्त्री समाज के स्वावलम्बन को उसके उत्थान की कुंजी समझती थी! अपने पिता के हाथ में आए हुए अनेक मामलों के कारण उसे यह अनुभव था कि अपने भरण पोषण के लिये दूसरों पर निर्भर रहने के कारण ही वे सुहाग के दिनों में दासी बनी रहती हैं और विधवा होने पर

विधर्मियों के पंजे में फंसती हैं। उसकी प्रबल आकांक्षा थी कि उसका पति उसके विचारों का पोषक मिले और फिर वे दोनों इस आदर्श को व्यावहारिक रूप देकर समाज पर उसकी उपयोगिता प्रमाणित करें।

किन्तु विवाह होने पर जब उसने पति के आचरण का निकट से अध्ययन किया, तब उसकी सारी आशाओं पर तुषार पड़ गया। पहले वह कभी का सोचा करती थी कि एक ही धर्म या जाति में विवाह को मर्यादित करके समाज ने भूल की है? किन्तु इस समय उसे मालूम हुआ कि दम्पति का एक विश्वास के अनुगामी होना और एक दूसरे को समझ बूझ कर वरण करना कितना आवश्यक है?

किन्तु फिर भी वह हताश नहीं हुई। उसे मनुष्य की प्रकृति एवं सत्य की विजय पर विश्वास था और इसी भरोसे उसने अपना कार्य प्रारम्भ कर दिया। उसने छोटी छोटी लड़कियों को गृह उद्योग दक्ष करने और पढ़ाने के लिये एक शाला खोली। एक महिला मण्डल संगठित किया और एक खेत लेकर उसमें कृषि की व्यवहारिक शिक्षा देने की व्यवस्था की। कमला का स्वभाव वैसे ही बड़ा मिलन सार था फिर यह सेवा। फलतः वह शीघ्र ही नगर के उस भाग में लोक प्रिय होगई और उसकी शिष्याओं की संख्या सैकड़ों तक पहुँच गई। इसमें सन्देह नहीं कि ऐसी अवस्था में उसे सार्वजनिक कामों के लिये कुछ अधिक समय देना पड़ता था। किन्तु इसमें किसी कार्य में गड़बड़ी पैदा नहीं हुई। कारण कि इधर अधिक समय देकर भी वह अपने गृह कार्य ऐवम् पति सेवा में रत्ती भर भी त्रुटि न आने देती थी। यदि कुछ समय घटाना भी पड़ता तो अपने सोने और अध्ययन के समय में से घटा देती थी। यही कारण था कि आज तक कभी उसके पति को इस सम्बन्ध में कोई दोष दिखाने का अवसर न आया था।

* * *

किन्तु अमरचन्द का भीतरी रूप दूसरा ही था और यह रूप उसके पिता के देहान्त के बाद और प्रखर हो उठा था। उसके खान-पान ने इस में और भी योग दिया। वह रूप और कुछ नहीं, पुरुष समाज का वही स्वेच्छाचार था, जिसे वह बहुत समय से स्त्री समाज पर चलता आता है, और जो अनेक विकृतियों के प्रभाव से सर्वथा त्याज्य हो पड़ता है। इसीलिये अमरचन्द को अपनी स्त्री का सभा संस्थाओं में जाना और स्वेच्छानुसार कार्य करना खटकने लगा। वह चाहने लगा कि उसकी आज्ञा बिना कमला कहीं घर से बाहर पैर भी न रक्खे। कैसा ही कार्य हो, उसकी अनुमति हो तभी करे। वह उसकी इच्छा और स्वतन्त्रता का अस्तित्व ही न मानता था। उसके विचारानुसार स्त्री उसकी सुखकी साधन मात्र थी और इसलिये उसकी इच्छानुचरी होना उस का पहला कर्त्तव्य था।

किन्तु कमला के लिये ऐसे विचारों को स्वीकार करना संभव न था। वह जानती थी कि वह दासी नहीं सहचरी हैं। जिस प्रकार उसका पति उसके भरण-पोषण और गृह प्रबन्ध संबंधी कार्यों में उसकी सम्मति लेकर कार्य करता है और सामाजिक एवम् राजनैतिक प्रश्नों में स्वेच्छानुसार आचरण करता है, वैसा ही करने का उसे भी अधिकार हैं। जब वह अपने इष्ट मित्रों से मिलता जुलता है। तो उसके लिए भी इस बात की स्वतन्त्रता है। इसके अतिरिक्त वह ऐसी आपत्तियों को अविश्वास की सूचना मानती थी। और अपने ऊपर अविश्वास किया जाना कौन पसन्द करता है ?

अवश्य ही एक दो बार अमरचन्द ने दलीलों द्वारा भी अपने विचारों का औचित्य सिद्ध करना चाहता था, किन्तु उसे सफलता नहीं हुई। वह यह नहीं मान सकी कि स्त्रियों का हृदय पुरुषों से निर्बल होता है और यह कि जिस ल को बीसियों बार करके भी पुरुष पतित नहीं होता, उसकी एक बा. शिकार होने से ही स्त्री सदा के लिए पतित हो

जाती है। उधर कमला अपने कर्त्तव्यों के पालन में इतनी सजग रहती
था कि कहीं अमरचन्द को अंगुली रखने को जगह ही नहीं मिलती थी
यही कारण है कि अब उसने निरर्थक हठ का आश्रय लेना आरंभ
किया और अपनी बातें मनाने को जान बूझ कर नित्य बखेड़ा करने
लगा।

(३)

प्रातःकाल उठते ही कमला गृह कार्यों में लग गई। किन्तु यह
क्या ? आज आठ बज गए तो भी अमरचन्द सो ही रहा है। वह कुछ
चिन्तित हुई और जल्दी जल्दी पति के कमरे के किवाड़ खोले। किन्तु
देखा, अमरचन्द सो नहीं रहा, बैठा २ कुछ लिख रहा है ? बोली, "क्या
कर रहे हो ? क्या आज स्नान भोजन नहीं होगा ?"

अमरचन्द इस बात को अनसुनी करके बोला, "हां आओ ? ठीक
अवसर पर आईं ? आज हमारा तुम्हा फैसला हो जाये ?"

"क्या फैसला करना है ? आजकल आपको क्या होगया है! ".

"मुझे तो जो कुछ हुआ सो हुआ है, यह कहो कि मेरी बा
तुम्हें स्वीकार हैं या नहीं ?"

"कौनसी बातें ?"

"वे ही जो मैंने रात को कही थीं ?"

कमला समझ गई कि आज निस्तार नहीं। आज कुछ न कु
घटना अवश्य घटेगी।" तब ? क्या वह इन धमकियों के सामने सि
झुकादे ? इतने श्रम से खड़ी की हुई निर्दोष संस्थाओं को नष्ट-भ्र
होने को छोड़ दे ? मदिरापान करने लग जाय ? विदेशी वस्त्र धार
करे ? अपने सिद्धान्तों के विरुद्ध आचरण करे ! और यह सब केव
इसलिये कि पति देव की ऐसी इच्छा है ? आखिर धर्म श्रेष्ठ है या

की अविचार पूर्ण इच्छा ?" इसी प्रकार क्षण भर आलोचना करने के बाद उतने अपना कर्तव्य स्थिर कर लिया। उधर अमरचन्द उसे चुप देखकर कुछ अकड़ गया।

बोला, "चुप क्यों होगई ? बोलो ?"

कमलां ने शांति पूर्वक किन्तु दृढ़तां से कहा, "पहले यह बताइये कि आपकी आज्ञा किस तरह उचित और आवश्यक है। मान लीजिए कि मैं आप से ऐसी ही मांग करूं, तो क्या आप उसे स्वीकार करेंगे ?'

"मैं तो पुरुष हूँ ! गृह पति हूँ ?"

" तो मैं भी तो आपकी सहचरी हूँ ? गृह-स्वामिनी हूँ ? मुझे आप धर्म विरुद्ध आज्ञा कैसे देते हैं ?"

" किन्तु पतिव्रत और स्वातन्त्र्य एक स्थान में नहीं रह सकते। प्रेम और स्वतन्त्रता परस्पर विरोधी गुण हैं। प्रेम के क्षेत्र में एक को आत्मसमर्पण करना ही चाहिए ?"

" नहीं स्वामी ? यह तो पातिव्रत का उल्टा अर्थ है। पातिव्रत का, वास्तव में आत्मसमर्पण या आज्ञा पालन से कोई संबंध ही नहीं है। उसका आधार तो पति के प्रति अखंड प्रेम और कल्याण की भावना है। इसीलिये यशवन्तसिंह की रानी पति को दुर्ग में न घुसने देकर भी पतिव्रता कहलाई और मीरां पति की आज्ञा उल्लंघन करके भी सती श्रेष्ट मानी गई और प्रेम तो स्वतन्त्रता का ही दूसरा नाम है। जहां भय है, परतंत्रता है, बल प्रयोग है, वहां प्रेम का क्या काम ?"

" तो प्राचीन कालीन लोग मूर्ख थे, जो पति की आज्ञा उल्लंघन को बुरा कहते थे,?"

" वे मूर्ख क्यों होने लगे ? उन्होंने जहाँ पति की आज्ञ-पालन धर्म माना है वहां पति-पत्नि के संबंध और धर्मों की भी तो व्याख्या

करदी है। उसके अनुसार दोनों ही एक दूसरे को आत्मसमर्पण करते थे और इस आत्मसमर्पण का मूल्य समझ कर ही एक दूसरे को पूर्ण स्वतन्त्रता देते थे और उन्हीं धर्मों के अनुकूल उनकी आज्ञायें होती थीं।

"तो तुम्हारी दृष्टि से स्वतन्त्रता रहित प्रेम प्रेम नहीं ?"

"नहीं स्वामी ! वह तो क्षुद्र मोह है।"

"इस बहस से लाभ नहीं, आखिर तुम तो वकील की बेटी हो। मेरा विश्वास है कि यह असंभव है और इसलिये यदि तुम्हें मेरी बातें स्वीकार न हों तो हमें अपना संबंध विच्छिन्न कर लेना चाहिए ?"

"यह तो तब हो जब मैं भी असंभव समझती होऊं। किन्तु मैं तो मानती हूँ कि इन बातों को नम्रता पूर्वक अस्वीकार करके भी मैं पति व्रता रह सकती हूँ।"

"तो अच्छी बात है, तुम रहो।" कह कर वह बाहर जाने को उद्यत हुआ।

कमला ने फिर एक बार प्रयत्न किया। बहुत कुछ अनुनय विनय की, उचित अनुचित समझाया, किन्तु अमरचन्द ने एक न सुनी। उसने कमला के कमरे को छोड़कर-जिसमें प्रायः उसका स्त्री धन ही था- और सब मकानों में ताला लगा दिया और बाहर चला गया।

* * *

कमला भी कुछ देर तक स्तम्भित सी बैठी रही। किन्तु फिर यह कहती हुई उठी कि "अच्छी बात है, अब इन्हें अनुभव से ही शिक्षा लेने देनी चाहिए। यदि मैं वास्तव में पतिव्रता हूँ, यदि वास्तव में मेरे विचारों का आधार निस्वार्थ सत्य है और मेरा ध्येय पवित्र है, तो अनुभव निश्चय ही उन्हें फिर सुपथ पर लायेगा।"

फिर भी उस दिन कमला से कुछ न हो सका। न उसने भोजन किया न स्नान और न कोई दूसरा कार्य। केवल ज्यों-त्यों कर अपने सार्वजनिक कर्तव्य पूरे किये और फिर आकर शय्या पर पड़ रही। करती भी कैसे ? आज मानों उसके हाथ-पैरों में शक्ति ही न थी, मन ठिकाने ही न था। न जाने क्या क्या विडम्बनायें और विभीषिकायें उसे घेरे थीं। आशा न होने पर भी रह रह कर उसके मन में यह भावना जाग उठती थी कि "अब अमरचन्द आरहा हैं ?" इसीलिए पत्ता भी खड़कने पर वह उठकर द्वार की ओर झांकने लगती थी। किन्तु अमरचन्द आया नहीं।

* * *

किसी प्रकार संध्या हुई। अक्स्मात दरवाजे पर एक 'फिटन' आकर खड़ी होगई। कमला की छाती धड़कने लगी। कुछ प्रसन्न और कुछ शंकित होती हुई उठकर वह खिड़की की जाली में से झाँकने लगी। किन्तु जो कुछ देखा उससे तो न देखना ही अच्छा था। उसे देखकर मानों उसके सिर पर वज्र गिर पड़ा। उसने देखा अमरचन्द एक वैश्या के कंधे पर हाथ धरे गाड़ी से उतर रहा हैं। साथ में एक नया नौकर भी है।

उधर अमरचन्द अपनी मंडली को लेकर भीतर आया और कमला के कमरे के ठीक सामने वाले कमरे में अपना अखाड़ा जमाया। रोटी बनाने को नौकर आ ही गया था, नई गृहणी भी आगई और उसके साथ ही वादित्रियों की मंडली भी।

कमला के लिए तो अब बाहर निकलना कठिन हो गया। उसकी छाती पर मानों सांप लौटने लगा ! इसमें सन्देह नहीं कि वह शिक्षिता थी, किन्तु फिर भी थी तो रमणी ही ! युवती ही। उसके मन में भावों का ज्वार उठने लगा। "ये वैश्या को लाये हैं ? क्यों ! क्या यह दिखाने

को कि वह किस प्रकार उनके संकेत पर नाचती हैं ? किन्तु वह इनके संकेत पर नाचती है क्या ? अच्छा यही सही ! फिर ? क्या मैं कुछ भी करके नहीं दिखा सकती ? यदि मैं भी इतनी नीचे उतरूं तब ?" किन्तु तत्काल ही वह अपने को श्राप देने लगी। " उफ ! यह क्या ! मेरे मन में इतने अपवित्र विचार ! नहीं। मैं तुम्हारे बराबर न होऊंगी। मैं ऐसी कल्पना को भी अपने हृदय में स्थान न दूंगी।" किन्तु विरोध भाव ने फिर बल पकड़ा। वह सोचने लगी. " तब ? क्या नित्य यह लील देखा करूंगी ? और मेरा अपराध क्या है ? यही न, कि मैं दासी बनने से इन्कार करती हूँ ? मनुष्योचित जीवन बिताना चाहती हूँ ! अपने विश्वासों के अनुसार रहना चाहती हूँ ! आखिर यह वैश्या क्या मुसलमान से हिन्दू हो जायेगी ? क्या वह धन न मिलने पर भी पतिव्रता बन कर बैठी रहेगी ! किन्तु ईर्ष्या तो अन्धी होती है न ! दुराग्रह तो विवेक-शून्य होता है न ! उधर सहिष्णुता दिखा- देंगे, इधर नहीं !"

इसी प्रकार दुनिया भर की जल्पनायें कल्पनायें उसके हृदय में उथल-पुथल मचाने लगीं। कोई कर्तव्य स्थिर करना उसके लिए कठिन होगया। वह रात भर अपने बिस्तर पर पड़ी रोती रही। पता नहीं बाहर क्या हुआ क्या नहीं हुआ ?

इस तरह एक ही घर में एक ओर रुदन होता रहा दूसरी ओर हास्य विनोद। एक ओर सुख गंगा बहती रही और दूसरी ओर दुःख की कढ़ाई चढ़ी रही।

सहसा प्रातः ४ बजे कमला की आंखें मिल गईं और आंखें मिलते ही मानो अन्तरपट खुल गये ! देखा, उसके कमरे के दरवाजे में एक वृद्ध साधु खड़े मुस्करा रहे हैं। साधु का भव्य मुख मण्डल, रौप्य श्वेत दाढ़ी और जटायें एवं दिव्य वेश देखकर मानों कमला के हृदय में श्रद्धा का ज्वार उमड़ आया उसने अपना दुःख उन्हें जताना। चाहा किन्तु मुंह से शब्द न निकला शोकावेग को सम्हालने में असमर्थ होकर मानो वह उनके

चरणों पर गिर पड़ी और अचेत होगई। न जाने कितनी देर वह इस अवस्था में पड़ी रही, उसे ध्यान नहीं रहा। किन्तु जब उसे चेतना आई तो उसे भान हुआ, मानो साधु उसके सिर पर हाथ फेरता हुआ, प्रेम पूर्वक कह रहा है, "पुत्री उठ! चिन्ता को छोड़, अपने कर्तव्य पर डट जा। कर्तव्य मार्ग खांडे की धार है और जब तूने समझ-बूझ कर उस पर चलने का व्रत लिया है, तो बाधाओं से क्यों डरती है! निर्भय होकर अपने पथ पर बढ़, ईश्वर तेरा बेड़ा पार करेंगे।"

यह कह कर साधू एक दम अदृश्य होगया। कमला की आंखें खुल गईं। उसने देखा न साधु है न सानु की पादुकायें। वह अपने बिस्तर पर पडी है। आठ बज चुके हैं और आशा की किरणों की भांति सूर्य रश्मियाँ उसके कमरे को आलोकित कर रही:हैं। उसने उठ कर इधर उधर दृष्टि दौड़ाई। मालूम हुआ कि अमरचन्द अपनी प्रेमिका सहित कहीं चला गया है। मकान में कल की तरह ताले लगे हैं। कमला ने मुंह धोया। उसने देखा, आज उसके बदन में कल से कई गुनी स्फूर्ति है। चौवीस घन्टे की उपवासी होने पर भी उसके हृदय में आज कल से अधिक उत्साह है।

(४)

कमला ने समझ लिया कि अब कम से कम कुछ समय के लिए यह अवस्था स्थायी है। अमरचन्द एक ओर उसे अर्थ की दासी के साथ (बिलास) मग्न होकर चिढ़ाना चाहता है, और दूसरी ओर व्यय न देकर दासत्व के लिये विवश करना चाहता है। इसमें सन्देह नहीं कि वह अपना व्यय न्यायालय द्वारा प्राप्त कर सकती थी। किन्तु उसने वह पथ ग्रहण नहीं किया। वह समझ गई कि आपसी बातों में तीसरी शक्ति का हस्तक्षेप वह बिना आत्मीयता के भावों को धक्का पहुँचाये नहीं करा सकती। उसने इस अवस्था का दूसरा ही अर्थ लगाया। साधु के स्वप्न दर्शन से उसे प्रायः यह पक्का विश्वास होगया कि इस घटना में दैवेच्छा

छिपी हुई है। ईश्वर ने उसे पति के सहयोग द्वारा नहीं, असहयोग द्वारा अपने आदर्श को व्यवहारिक रूप देने का अवसर दिया है, ताकि वह सच्चे स्वावलम्बन के रूप में ही अस्तित्व में आवे। और यह कि उसे इस अवसर का उपयोग करना चाहिए। अपने पाति-व्रत को और ति प्रेम को तनिक भी ठेस न पहुँचाते हुऐ उसे अपना भरण-पोषण स्वयं करना चाहिए।

इस प्रकार निश्चय कर लेने पर कमला ने अपने कार्य की एक विस्तृत तालिका तैयार की। नकद रकम तो उसके पास बहुत कम थी, हां आभूषण काफी थे। उन्हीं को गिरवी रख उसने कुछ पूंजी प्राप्त की। इस पूंजी से, उसने सब से पहले तीन कार्य आरम्भ किये। दर्जी का कृषि—विशेषत: शाक फलादि पैदा करने का और पुस्तक विक्रय का। इन कामों में सहायता देने को कुछ नौकर रख लिये और कुछ आड़तिये नियुक्त कर लिये। इधर इस बात का पता उसकी शिष्याओं को भी कुछ कुछ चल गया। यद्यपि उन्होंने कमला के अनुरोध से इस बात को आगे नहीं फैलने दिया, तथापि तन, मन से उसकी सफलता के लिये उद्योग करने लगीं। परिणाम यह हुआ कि थोड़े ही दिनों में कमला को अच्छी आय होने लगी। क्रमश: उसने इसी आय से वस्त्र बुनने और कताई रंगाई आदि के भी कार्यालय खोल दिये और इनमें उसे प्राय: सबही सहेलियों और शिष्याओं से सहायता मिली। स्त्रियां अपने सूत की बिकरी के लिये स्वयं शुद्ध खादी का प्रचार करने लगीं और इस तरह ये कार्यालय भी स्वावलम्बी होगये।

उधर अमरचन्द अपने आचरणों के कारण सार्वजनिक क्षेत्र में तो सर्वथा गिर ही गया था, गृह कार्य भी छोड़ कर एक दम विलास रत होगया। जमीदारी की ओर देखने का उसे अवकाश ही न मिलता था। उस के लिये मानो अब संसार में दो ही काम रह गये थे। दिन भर प्रेमिकाओं को लिए कुंजों और बागो में घूमना। और रात को घर

पर महफिल जमा कर कमला को जलाना। ऐसी अवस्था में कारिन्दों की बन आई और उन्होंने अपना घर बनाना शुरु किया। इधर व्यय अन्धाधुन्ध बढ़ ही गया था। फलतः प्रायः धन की कमी होने लगी और उधार से काम चलाया जाने लगा।

किन्तु ज्यों ज्यों दिन बीतते जाते थे अमरचन्द का ध्यान कमला की ओर भी अधिकाधिक खिंचता जाता था। प्रेम के कारण नहीं। अपने जादू के विफल होने के कारण जब उसने नये ढर्रे पर पैर रक्खा, तब उसने दो ही बातें सोची थीं अर्थात् चार दिन के भीतर या तो कमला उसके पैरों पर आगिरेगी या अपने पीहर चली जायेगी। किन्तु कमला पर उसके नए जीवन का प्रभाव केवल पहले दिन ही हुआ था। फिर तो उसे यह भी पता न रहता था कि बाहर क्या हो रहा है ? प्रथम तो उसे अपने कार्यों से ही अवकाश न मिलता था, फिर मिलता तो वह उधर ध्यान न देती थी

किन्तु अमरचन्द को तो इन बातों का पता न था। इसीलिये दो सप्ताह तक भी जब उसे अपने जादू का कोई असर न दिखाई दिया तो उसने सोचा कि आभूषणों को बेचकर काम चला रही होगी। इतना सोचकर ही वह चुप नहीं रहा। यह भी मनुष्य का स्वभाव है। वह प्रेमी के सुखों की इतनी गहरी खोज नहीं करता जितनी वैश्या के दुखों की और अपने प्रहारों के परिणामों की। अतः अमरचन्द ने आभूषणों की बिक्री के सम्बन्ध में पता लगाने की चेष्टा की, किन्तु व्यर्थ कुछ पता न चला।

अन्त में जब कई महीने होगये, तब तो उसकी इस आकांक्षा ने बेचैनी का रूप धारण कर लिया। कुछ दिन उसने अपने ऊपर भरण-पोषण की नालिश होने की भी बात सोची थी, किन्तु वह भी झूठी हुई। "तब किस तरह वह अपना निर्वाह कर रही है ?" रह रह कर यही प्रश्न उसके मन में चक्कर लगाने लगा। पापी का मन पाप की ओर जाना

स्वाभाविक है। अतः अन्त में उसे उसके कुलटा होने का सन्देह हुआ। किन्तु जांच पूछ पर यह सन्देह निराधार निकला।

फिर इस बारे में जांच करना सरल काम न था कारण सब ओर उसे यही पता चलता था कि उसके इस गृह काण्ड को नगर में या मुहल्ले में कोई नहीं जानता। और स्वयं तो कोई ऐसी बात को प्रकट करने ही क्यों लगा ? उधर कमला ने इसी बात को गुप्त रखने के लिये कार्यालय भीं कल्पित नामों से चला रक्खे थे। सिवाय उसके खास कर्मचारियों के और कोई यह न जानता था कि कमला का उससे क्या संबंध है ! किन्तु "जिन खोजा तिन पाइयां" के अनुसार अन्त में धीरे धीरे अमरचन्द को सब बातों का पता चल गया। साथ ही उसके भाग्य भी बदल चले। जब उसने देखा कि उसके इतना नीच व्यवहार करने पर भी उसने उसकी बुराइयों और अपने कष्ट की कहीं चर्चा तक नहीं की है ऐवम् अपने पतिव्रत को अपने वचनानुसार ही निभारही है, तब उसे अपने ऊपर घृणा होने लगी और जब कमला के गुण दिखाई देने लगे तों स्वभावतः ही वेश्या के अवगुण भी उसके सामने आने लगे। किन्तु अभी यह क्षणिक वैराग्य था। वह जागृत होता था, किन्तु ज्यों ही वेश्या का मुख और वारुणी का प्याला सामने आता अथवा झूठा स्वाभिमान उठकर अपना असर दिखाता त्यों ही वह अदृश्य हो जाता था।

५)

हम बता चुके हैं कि नगर में साधारणतः किसी को इन बातों का पता न था। यहाँ तक कि कमला के पिता भी कुछ न जानते थे उन्हें पता लगता भी नहीं, किन्तु एक बेढ़व संयोग आपड़ा। अमरचन्द को अब उधार मिलना बन्द होंगया था। अतः वेश्या ने उसे जमींदारी का एक भाग गिरवी रखने को तैयार किया। गिरवी रखने के लिए भी एक अपना ही गुर्गा खड़ा कर लिया और इसीलिए सौदा सस्ता पटवाया।

किन्तु भाग्यवशात् वह इसकी लिखा पढ़ी कराने कालीचरन के ही मुंशी के पास पहुँची। उधर मुन्शा ने जब अपने स्वामी के जामाता का नाम देखा तो उसे सन्देह हुआ। उसने बातों ही बातों में सारी घटना जान ली और फिर वैश्या को दूसरे दिन आने के लिऐ कह कर विदा किया, एवम् वैश्या के जाते ही स्वयं कालीचरन जी के यहां पहुँचा।

सुनते ही मानों उनके तन बदन में आग लग गई। कमला पर क्रोध आया। कहने लगे. "वह इतने दिन से परित्यक्ता होकर कष्ट भोग रही है और मुझे सूचना भी नही दी। ओह ? में क्या जानता था कि यह नालायक लड़का ऐसा निकलेगा ?" अन्त में उन्होंने मुंशी को धन्यवाद देकर विदा किया और स्वयं गाड़ी तैयार करा कमला को देखने चले। कमला की माता को इसकी सूचना देने का उन्हें साहस न हुआ ?

मार्ग में भी उन्हें बराबर कमला ही का ध्यान बना रहा। प्रतिक्षण उनकी कल्पना उन की दृष्टि के सामने परित्यक्ता स्त्रियों के कष्टों के नए नए भीषण चित्र खींचने लगी। उसे अच्छा भोजन न मिलता होगा। अच्छे वस्त्र न मिलते होंगे। दिन रात बेचैनी और चिन्ता रहती होगी। नित्य झगड़ा होता होंगा। उसका चन्द्र विनिन्दक मुख मुरझाये कमल के समान होगया होगा। और जब भूमि बिकने की नौबत आगई हैं तो उसके आभूषण भी अवश्य ही छिन गऐ होंग, किन्तु उसने मुझे सूचना क्यों न दी! – किन्तु देती कैसे वह बचपन से ही बड़ी मानिनी है।" दुनिया भर की विभीषिकाऐं उन्हें बेचैन करने लगीं। उन्होंने निश्चय कर लिया कि यदि आवश्यक हुआ तो में अपनी लड़की को दूसरा विवाह करने की भी अनुमति देदूंगा।

सहसा नौकर ने सूचना दी कि अमरचन्द का मकान आगया है। कालीचरण जल्दी जल्दी उतर कर भीतर गए किन्तु देखा, सब मकानों में ताले लगे है। केवल एक कमरे में किसी के खांसने की आहट आई।

वे उसी की ओर गये। किन्तु देखा, कमला नहीं, एक नौकर खड़ा है। उससे पूछा, "इस कमरे में कौन रहता है ?"

"मालकिन रहती है ?"

"वे कहां हैं ?"

"कारखाने में हैं ?"

"कारखाने में ! कारखाना कहां है ? किसका" कहते कहते वे रुक गये। सोचा, इससे क्या पूछूं, चल कर कमला ही से सब बातें जानना ठीक होगा। फिर बोले,

"चल, हमें कारखाने में लेचल !"

नौकर कुछ चकराया। बोला "आप कौन हैं !"

वकील साहब बोले, "तुम्हारी मालकिन हमारी लड़की है !" नौकर माफी मांगने लगा। बोला "हुजूर ! में नया नौकर हूं ?"

वकील साहब बोले, "कोई डर नहीं ! हम बुरा थोड़े ही मानते हैं !"

नौकर ने झट ताला बन्द किया और कोच बक्स पर आ बैठा। थोड़ी ही देर में काली बाबू कारखाने में आ पहुँचे. किन्तु उन्हें सहसा यह विश्वास न हुआ कि यह कमला का हो सकता है। प्रत्येक विभाग, उसका संगठन, कार्यशैली और उत्तम व्यवस्था उन्हें यही विश्वास दिलाने लगे कि यह किसी कम्पनी का कार्यालय है और कमला कदाचित् यहां नौकर होगी ? किन्तु इस विचार से भी उन्हे सान्त्वना ही हुई। वे सोंचने लगे, "आखिर ऐसे अयोग्य जामाता के टुकड़ों से तो यह अच्छा है।"

फिर उन्होंने नौकर से पूछा, "यहां का मैनेजर कौन है ?"

"मालकिन ही हैं साब ? और कौन हो सकता है ?"

"और मालिक कौन है !"

नौकर कुछ चकराया फिर वकील साहब की तरफ देख कर बोला "कारखाने की मालिक तो मालकिन ही है ?"

काली बाबू को अपनी छाती फूलती हुई जान पड़ी। वे सोचने लगे, यदि यह बात सच होतो मुझे कमला का पिता होने का अभिमान होगा।

अन्त में एक कमरे के सामने पहुँचकर नौकर ने कहा," यही मालकिन का कमरा है। "आप ठहरिये में पूछ आता हूँ। वह भीतर गया और दूसरे ही क्षण कमला ने आकर अपना सिर पिता के चरणों में रख दिया। कालीचरण ने गदगद होकर पुत्री को हृदय से लगा लिया। कुछ क्षण तक दोनों के मुह से बात न निकली फिर दोनों भीतर जाके बैठे। प्राय दो घन्टे तक बातें होती रही फिर काली बाबू वापिस चले गए। क्या बातें हुई, यह पता नहीं, किन्तु निश्चय ही जाते समय उनके मुख पर विषाद की घटाएँ न थीं।

उसी दिन संध्या समय जब कमला लौटने वाली थी, तब अमरचन्द मुख्य द्वार के सामने वाले अपने कमरे में विचार मग्न बैठा था। इधर कई दिनों से वह खिन्न रहता था। कारण कई थे। ऋण अधाधुंध होगया था। आय घटती जाती थी। निरन्तर विलासिता में फंसे रहने से निर्बलता अलग बढ़ता जाती थी। यहां तक कि अनेक बार अङ्गोपाङ्ग विद्रोही हो उठते थे और तरह तरह के रोगों ने आक्रमण प्रबल कर दिया था। इसीलिये आज वह सोच रहा था कि इस अवस्था से किस तरह मुक्ति मिले ? अब उसे इन व्यसनों के दोष और कमला के अलग होने की

अपनी भूल स्पष्ट दिखाई देने लगी थी। जिमीदारी पर नजर रखने की आवश्यकता भी अनुभव होने लगी थी। किन्तु व्यवहार में फिर भी कुछ न होता था। व्यसन इतने प्रबल हो गये थे कि वह कार्यक्रम में कुछ हेर फेर करने ही न देते थे और यदि कभी वे निर्बल पड़ने लगते तो उनकी सहायता को वैश्या आपहुँचती।

इसी उधेड़ बुन में यह था कि कमला वापिस आई। अमरचन्द उसकी ओर तृषित नेत्रों से देखने लगा। कमला ने भी दृष्टि उठाई और उसका मर्म समझा। वह जान गई कि अब पागलपन उतर चला है। किन्तु साथ ही साथ वह जानती थी कि मनुष्यों में अभिमान सब से बुरा और प्रबल रोग है। मनुष्य से सब से अधिक असदाचरण यही कराता है। इसी के कारण मनुष्य अपनी भूल समझ जाने पर भी स्वीकार नहीं करता और झूठ का समर्थन करता रहता है। इसी के कारण राज्य अनीति का समर्थन कर अपना पतन कर लेते है। अतः उसने स्वयं निरभिमान बनकर अपना नौकर भेजा। नौकर ने आकर कहा, "आपको मालकिन बुला रही है।" कृपया पधारने का कष्ट करें।

अमरचन्द जाने को उद्यत हो गया। कारण यह निमन्त्रण सम्मान युक्त था। वह अपनी ओर से नहीं जारहा था। स्वयं कमला बुला रही थी। किन्तु इसी समय वैश्या रानी निकल आई और बोली, "क्या नकटे होकर उसके पास जाओगे? मालूम होता है, अब आटे दाल का भाव मालूम होने लगा है किन्तु अभी थोड़ी गर्मी है। तभी तो नौकर को भेजा है। जैसे अपने नोकर को बुलवा रही हो।" इस पिछली बात ने अमरचन्द पर विशेष असर किया, उसका झूठा अभिमान फिर जागृत हो उठा और उसने यह आमन्त्रण अस्वीकार कर दिया।

(६

किन्तु वेश्या को भी मानो दैव ने इस दुष्कृत्य का दंड तुरन्त ही दे दिया। उसकी भूमि गिरवी रखने की आशा पर पानी फिर गया।

कारण उसी दिन जब अमरचन्द बाजार में होकर आरहा था तब उसे एक सेठ मिला और उसने उसी भूमि पर, वैश्या के मित्र की अपेक्षा अधिक रकम देने का प्रस्ताव किया। अमरचन्द को तो इस धन ही की भूख थी। अतः वह ऐसी बातें क्यों अस्वीकार करता? अतः उसने वहीं लिखा पढ़ करके रुपये ले लिये। हां, वैश्या को इससे बड़ी निराशा हुई। आधेक मूल्य में आती हुई जमींदारी उसके हाथ से निकल गई। किन्तु करती क्या? मन ही मन नए व्यापारी को कोस कर बैठ रही।

फिर उसी ढर्रे से दिन निकलने लगे। अमरचन्द अब पहले से निर्बल हो चला। विलासी जीवन के परिणाम उसके स्वास्थ्य पर अधिकाधिक स्पष्ट होने लगे और साथ ही चिकित्सादि का व्यय भी बढ़ने लगा। किन्तु व्यसन आसानी से कहाँ छूटते है? वे लगे ही रहे जमींदारी के एक एक करके सब भाग उसी सेठ के खाते लिख दिये गये। केवल हवेली रह गई। अब वैश्या केवल इसी की आशा से ठहरी हुई थी। उसने इसे भी गिरवी रखने की सलाह दी। किन्तु ऐसा करने का अमरचन्द को साहस न हुआ। प्रथम तो पैतृक-सम्पत्ति में अब यह हवेली ही रह गई थी। दूसरे ऐसा करने पर कमला को भी उस में से निकलना पड़ता। और अब चाहे उसका झूठा अभिमान उसे उससे दूर रख रहा हो, कमला के लिये उसके मन में अपार आदर था। इस लिये वह ऐसी कल्पना भी न करना चाहता था, जिससे उसे अधिक कष्ट देना पड़े। इधर बिना धन से निराश हुए वैश्या से पीछा छूटना सम्भव न था। अतः उसने हवेली गिरवी रखने से इंकार कर दिया।

अब क्या था, वैश्या तो चम्पत हुई ही, दूसरे साथियों ने भी मुंह छिपाना आरम्भ कर दिया। जहां अमरचन्द को देखते ही खड़े होकर तीन तीन मुजरे किये जाते थे, वही लोग अब बहुधा आंख बचा कर और सामना होने पर केवल हाथ उठा कर काम चलाने लगे।

जहां पहले उसे एक घड़ी रोक रखने को सैंकड़ों बहाने ढूंढे जाते थे, वही लोग अब उसे विविध उपायों से जल्दी टरकाने लगे। अब अमरचन्द को पूरा अनुभव हुआ कि जिसे प्रेम समझ कर वह सर्वनाश के पद पर लगा, वह वास्तव में प्रेम नहीं, इन्द्रियां और वासनाओं की दासता थी। ये इशारे पर नाचने वाले ठगी पुरुष उनके इशारों पर नहीं, धन के इशारों पर नाचते थे। वास्तव में जहां दासत्व है वहां सच्चा प्रेम नहीं मिल सकता। अब उसे रह रह कर कमला की बातें याद आने लगीं। "स्वतन्त्रता सहित प्रेम प्रेम नहीं, क्षुद्र मोह है" ये ही शब्द रह रह कर उसके कानों में गूंजने लगे। उसके पश्चात्ताप का ठिकाना न रहा। रह रह कर उसकी इच्छा होने लगी कि पतिव्रता की प्रतिमा के चरणों में जा पड़े और उससे क्षमा प्रार्थना करे। किन्तु जाय किस मुह से? अवश्य ही भूल को सुधारना बुरा काम नहीं है। किन्तु दुरभिमान ऐसा करने कहां देता है।

मन का प्रभाव शरीर पर वैसे भी पड़ता ही. फिर अमरचन्द तो बहुत निर्बल था। वह तीव्र पश्चात्ताप और शोक को सहन न कर सका। तीसरे ही दिन उसें बड़ें जोर का ज्वर चढ़ आया और वह अपने कमरे में जाकर चारपाई पर पड़ रहा। किन्तु आज उसके पास कोई उसे पानी पिलाने वाला भी न था। रसोई बनाने वाला एक सप्ताह हुआ भाग गया था। खाने-पीने का काम बाजार से चल रहा था। रुपये दो चार थे, किन्तु अब उन्हे जल्दी जल्दी व्यय नहीं किया जाता था। इस समय वे स्वर्ण मुहरों से भी अधिक मूल्यवान जान पड़ रहे थे। कमरे में झाड़ू भी पॉच छह दिन से नहीं लगी थी झाड़ू कौन लगाता। स्वयं तो काम करना सीखे न थे और कोइ दूसरा था नहीं। दूसरी चीजें भी अस्त-व्यस्त पड़ी थीं। मोरी में से दुर्गन्ध उठ रही थी। दीवारों पर वैश्या के पीकदान का पीक जगह २ शोभा बढ़ा रहा था। ऊपर मकड़ियां मक्खियों का शिकार कर रही थीं। ऐसा प्रतीत होता था, मानो वह मनुष्यों का नहीं, भूतों के रहने का स्थान है।

(७)

शाम को कमला अपने कार्यालय से लौटी तो उसने देखा, कि पतिदेव का कमरा तो खुला है, किन्तु बोली किसी की सुनाई नहीं देती ! इधर कई दिन से सब मकान बन्द रहते थे, किन्तु साथ ही यह कमरा भी बन्द रहता था और इसलिये वह समझी थी कि कदाचित अमरचन्द कहीं बाहर गया है। किन्तु आज की अवस्था दूसरी थी। इसीलिये उसे शंका हुई। फलतः उसने नौकर को संवाद लेने भेजा। नौकर तुरंत लौट आया और बोला, " भीतर तो बाबू जी अकेले बेहोश पड़े हैं ! " यह सुनते ही कमला को मानों काठ मार गया। वह सोचने लगी, " तो क्या जितने दिन से मकानों को बन्द देखती हूँ, उतने ही दिन से वे बीमार हैं ? ओह ? मैंने इतने दिन से जांच क्यों नहीं कराई। भगवन। क्या मेरी परीक्षा इतनी कठिन होगी।" इसी भांति भय विह्वल दौड़ी हुई वह ऐक दम कमरे के भीतर पहुँची। पहुँच कर नाड़ी देखी हृदय पर हाथ रक्खा शिर को स्पर्श किया। तब जाकर कुछ शान्त हुई। मालुम हुआ जोर का ज्वर है। तत्काल एक नौकर को वैद्य लाने को भेजा और दूसरे को अपने पिता को बुलाने। फिर परिचारिका को बुलाया और उसे मोरी तथा कमरे को स्वच्छ करने की आज्ञा दी एवम् स्वय अमरचन्द की सेवा में लगी ?

थोड़ी ही देर में वैद्य और कालीबाबू आ पहुँचे। वैद्य ने देख कर कहा, " चिन्ता का कोई कारण नहीं हैं। केवल ज्वर है, उतर जायेगा ? कमला को इससे बड़ा धैर्य हुआ। उधर दो तीन घन्टे के उपचार से ज्वर हल्का भी पड़ चला और इसलिए रही सही शंका भी जाती रही।

भोजन तैयार होगया था। अतः वैद्य ने विदाली और काली बाबू भोजन करने गए। कमला पति के सिराहने बैठ उसका सिर दबाने लगी। सहसा अमरचन्द ने कराह कर आंखें खोलीं और सिर दबाने वाली को

ओर देखा। किन्तु उसे उस दृश्य पर विश्वास न हुआ। उसने सोचा मैं स्वप्न देख रहा हूं। किन्तु मन न माना। उसने इधर उधर दृष्टि दौड़ाई देखा, कमरा वही है, किन्तु वह अव्यवस्था नहीं है। प्रत्येक वस्तु स्वच्छ और यथा स्थान रक्खी है। सारा कमरा किसी सुगन्धित पदार्थ के जलने से सुगन्धित हो रहा है। इस परिवर्तन से उसे और भी विश्वास होगया कि यह स्वप्न ही है, किन्तु मन ने फिर शंका की। अन्त में कमला ने पूछा, "आप इस प्रकार क्या देख रहे हैं?"

अमरचन्द ने फिर आंखों पर हाथ फेरा। फिर मानो बड़ी कठिनता से बोला, "कमला?"

"हां स्वामिन!" कमला ने उसी चिर-परिचित कोमल स्वर से उत्तर दिया।

"तो क्या में जग रहा हूँ? क्या सचमुच तुम मेरे पास बैठी हो? अमरचन्द ने फिर पूछा।

"हां स्वामी! सचमुच ही आज मुझे अपना खोया हुआ धन फिर मिला हैं!" कमला ने फिर कहा।

अमरचन्द की आंखें अश्रुपूर्ण होगईं। बोला, "तुम मुझे अब भी प्रेम करती हो कमला!"

कमला भी गद् गद् हो उठी उसने कहा, "स्त्री के प्रेम का केन्द्र पति के सिवाय कौन हो सकता है स्वामी?"

इसी समय कालीचरण बाबू वापस आगए। कमला उठकर खड़ी होगई। काली बाबू ने नाड़ी देखी और बोले, "ज्वर बड़ी तेजी से उतर रहा है। शायद दो घन्टे में बिल्कुल उतर जायेगा।

(८)

प्रातः आठ बज चुके थे। अमरचन्द कमला की गोद में सिर रक्खे लेटा था। कमला सिर दबा रही थी। अब उसे ज्वर न था। सिरदर्द भी

न था। किन्तु कमला को बिठा रखने के लिए उसने व्यर्थ बहाना बना रक्खा था। अन्त में अमरचन्द बोला, "मैं तुम्हारा अयोग्य पति हूँ कमला! मैंने अपनी सारी जमींदारी गिरवी रख दी है। मुझे तो अब यही चिन्ता हैं कि हम लोगों का गुजर किस तरह चलेगा ?"

कमला ने कहा, "कोई चिन्ता नहीं स्वामी ? काम तो किसी प्रकार चल ही जायेगा ....." "अमरचन्द बोला, " चल कहां से जाऐगा ! पूंजी में तो केवल हवेली रही है। फिर जहां कभी पैदल नहीं चले हैं वहां फटे हालों रहना कैसे सहन होगा ? मैं तो सोच रहा हूँ कि इस हवेली को बेच कर कहीं अन्यत्र चले चलें। " देश चोरी परदेश भीख !"

वहां गरीबी से भी रह सकेंगे।"

कमला ने कहा, "इस चिन्ता को छोड़िये। मेरे कामों की आय काफी है। उनमें हम लोग साधारणत: अच्छा जीवन बिता सकेंगे।'

" कितनी आय है ?"

"प्राय: २००) मासिक।"

'दो सौ मासिक ?" अमरचन्द ने कुछ जोर से कहा। उसे वास्तव में बड़ा आश्चर्य हुआ। अवश्य ही उसने अपनी पत्नि के स्वावलम्बी होने की बात सुनी थी, किन्तु यह नहीं जाना था कि उसकी इतनी आय होगी।

कमला बोली, "इसके सिवाय मैंने कुछ बचत भी की हैं। इस सब से भली भाँति काम चल जायेगा। फिर चार वर्ष में तो जमीदारी स्वतन्त्र हो ही जायेगी।

अमरचन्द बोला, 'कहां ? जमीदारी कहां स्वतन्त्र हो सकती है ! इतने सप अब एक दम इकट्ठे होना कोई हंसी खेल है क्या ?"

कमला ने कहा, "क्यों ? जमीदारी की आय जमा न होगी क्या ?"

अमरचन्द बोला, "नहीं ! आय तो ब्याज पेटे जमा होगी।"

कमला हंसी। बोली, "नहीं, यह बात नहीं है। बात यह है कि वेश्या भूल से पिताजी के पास ही लिखा पढ़ी कराने गई थी। मालूम होने पर पिताजी मुझ से मिले और फिर मेरी सलाह के अनुसार ही उन्होंने दूसरा सेठ भेजा, जिसने आपको कर्ज दिया। उससे पिताजी ने यह ठहरा लिया था कि यद्यपि आपको सन्देह न होने देने के लिए शर्तें प्राय: वैसी ही लिखाई जायेंगी, तथापि इस रकम पर ब्याज साहूकारी लिया जावेगा और शेष आय ऋण पेटे जमा होगी। इसी हिसाब से मेरा खयाल है कि यदि दुष्काल न पड़े तो चार वर्ष में जमीदारी स्वतन्त्र हो जायेगी।

यह सुनकर अमरचन्द के आश्चर्य का ठिकाना न रहा। उसकी आंखों से कृतज्ञता के आंसू बह निकले। बोला, "कमला। आज मैं स्त्री के स्वावलम्बन का मूल्य समझ रहा हूँ तुम स्वावलम्बिनी और शिक्षिता थीं, इसलिए तुमने जमीदारी को तो बचा ही लिया, बिना जमीदारी भी सम्मान पूर्ण जीवन बिताने योग्य साधन खड़ा कर लिया है। यदि तुम परावलम्बिनी होती तो मैं तो डूबा ही था, मेरे साथ तुम्हें भी डूबना पड़ता। आज अच्छा भोजन भी न मिल सकता। आज फिर मिलकर भी हम लोग सुखी न हो सकते। फिर जब धनाढ्य पति के जीवन काल में भी स्त्री के स्वावलम्बन का इतना उपयोग है, तब विधवाओं और गरीबों के लिये उसकी उपयोगिता में कौन सन्देह कर सकता है ?"

कमला ने कहा, "मैं भी इसीलिये इस आदर्श के पीछे इतनी पागल बन रही हूँ स्वामी ! वास्तव में परावलम्बिनी स्त्री सुख साधनों में भले ही सुख वृद्धि कर सके, विपत्ति में तो विपत्ति बढ़ाने वाली प्रमाणित होती है। देखिये न कितनी ही विधवायें अपने भरण-पोषण में असमर्थ

होकर ही विधर्मिणी बन जाती हैं और कितने ही पुरुष स्त्रियों के भरण-पोषण के लिये ही ऋण में डूब जाते हैं।"

फिर वह हंसकर बोली, "अब तो कदाचित् आपको खादी पहनने पर भी आपत्ति न होगी!"

अमरचन्द बोला, "अब तो मैं स्वयं पहनूंगा। अब मैंने समझा है कि यदि हम गृह उद्योगों से बनी वस्तुऐं न लें तो वे चल ही नहीं सकते। फिर गृह उद्योगों से बनी चीजें लेने का अर्थ है अपनी स्त्रियों की आय बढ़ाना।

"और स्वतन्त्रता पर?", कमलाने मुस्करा कर प्रश्न किया।

अमरचन्द की आंखें लज्जा से नीची हो गईं बोला, "क्षमा करो कमला। वह मेरा पागलपन था। वास्तव में पवित्रता और प्रेम का स्वातन्त्रय से नाश नहीं होता। हमारी ही अवस्था इसे प्रमाणित कर रही है। तुम स्वतन्त्र होकर भी पवित्र हो और मैं पतन की सीमा पार कर चुका हूँ, कहते कहते अमरचन्द की आंखों में आंसू भर आए। उसने फिर कहा, "क्षमा ..." किन्तु आधा ही शब्द मुंह से निकला था कि कमला ने अपने कोमल हाथ से उसका मुंह बन्द कर दिया।"

* * *

आज अमरचन्द का सार्वजनिक क्षेत्र में फिर बड़ा आदर है। किन्तु वह अब भाषण करने का अधिक शौकीन नहीं है। अब तो वे दोनों पति-पत्नि एक ही ध्येय पर जुटे हुएहैं। वह है "स्त्रियों का स्वावलम्बन।"

३. उच्चता बनाम नीचता

हीरालाल था तो कुम्हार, किन्तु था भाग्य का धनी। उसकी साक्षरता और धर्म भीरुता ने उसके भाग्य को और भी चमका दिया था। इस साक्षरता और धर्म भीरुता का इतिहास भी बड़ा मजेदार है।

हीरालाल के बाप का नाम था नवला। वह पढ़ा लिखा बिल्कुल न था। हां अपने धन्धे का गुरु था। बर्त्तन ऐसे बनाता था कि लोग मोहित हो जाते थे। जानकार लोग कहते हैं कि वह दूसरे देश के किसी नगर में होता तो मिट्टी को, यदि चांदी के बराबर नहीं तो तांबे के बराबर भाव में अवश्य बेचता। किन्तु बसन्तपुर में उसके गुणों की कोई पूछ न थी। यहां तो, पूछ तो दूर इन बर्तनों का भी पूरा लाभ उसके पल्ले न पड़ता था। ग्राम के जमीदार के यहां, रण्डी, भड़ुओं, कर्मचारियों और खुशामदी मेहमानों का तांता लगा ही रहता था और कुम्हार का एक ही घर होने से नवला का अधिकतर समय बेकार में पानी भरने में ही बीतता था। बर्तन भी आधे तो जागीरदार की भेंट हो ही जाते थे शेष आधे रहे हुओं में से भी कामदार फौजदार अहलकारों और चपरासियों की पूजा करनी पड़ती थी। इन सब झगड़ों से जो कुछ बच रहते, उन्हें वह अपने जजमान किसानों को दे आता था और उनके बदले में वे जो धान्य उसे फसल पर देते उसी से अपनी गुजर चलाता था।

फिर भी वह था बड़ा मौजी और नटखट। वह आठवें दिन एक देवता की चौकी बुलाता था और चौथे दिन जागरण करता था। इस

चौकी में वह खूब ढोंग जमाता। ऐसी ऐसी बातें घड़ता कि लोग चकित रह जाते। भूत भविष्य कथन तो उसके बांये हाथ के खेल थे। ग्रामीण अन्ध विश्वासी होते ही हैं। वे खूब झुन्ड के झुन्ड आते। कोई कुछ पूछता कोई कुछ। कोई धन मांगता कोई बेटा बेटी। कोई अपने रोग की दवा पूछता, तो कोई घर की कलह मिटाने का उपाय। नवला भी पूरी उदारता से काम लेता। धूप के बर्तन की राख और धान्य के दाने ये उसके रामबाण नुस्खें थे और द्वयार्थक बातें कहना उसकी विशेषता निःस्सन्देह उसकी कितनी बातें झूठी भी निकल जाती थी, किन्तु इससे उसके काम में कोई बाधा नहीं पड़ती थी। राज्य या जागीरदार की ओर से औषधालय आदि तो वहां थे नहीं, अतः रोगी भोगी सब का आश्रय स्थान वही था। फिर भोले ग्रामीण देवताओं को झूठे मानने की अपेक्षा किसी बात के झूठी होने का कारण अपनी त्रुटियां में खोजने के ही विशेष आदी होते हैं।

इस ढंग की बदौलत छोटे मोटे लोगों में उसकी प्रतिष्ठा भी अच्छी थी। देवता का कृपा-पात्र जान कोई उससे लड़ता भिड़ता तो था ही नहीं, अन्य प्रकार से भी उसे हानि पहुँचाने का साहस न करता था। यही नहीं, इस ढंग से उसे कुछ आय भी होजाती थी। चौकी के दिन तम्बाखू, नारियल, साग-पात, गुड़, घी, धान्य आदि काफी आता था। कोई भक्त कभी कभी नकद रुपये, चांदी के छत्र और ध्वजा-वस्त्र आदि भी भेंट कर जाते थे।

किन्तु एक बात थी। इस धन का उसे लोभ न था। चाहे अंध विश्वास के कारण ही हो, उस का यह खयाल था कि इस प्रकार देवार्पण हुई वस्तुओं का उपयोग पाप है। इसीलिये वह इस आय को अपने व्यक्तिगत कामों में नहीं लेता था। हां इसकी बदौलत उसे अपने स्वभाव में मिले हुए मौजीपन को चरितार्थ करने का अवसर मिल जाता था। वह इस आय से ग्राम वालों की खूब सेवा करता था। उसकी लिपी

पुती साफ बैठक प्रातः ४ बजे से लगाकर रात के बारह बजे तक ग्राम-वासियों के लिये खुली रहती थी। अलाव में हर दम आग, एक ताख में दो चार छोटी बड़ी चिलमें और एक खूंटी पर लटकती हुई तमाखू से भरी थैली, ये उसकी बैठक की विशेषतायें थीं। ठण्डे पानी के घड़े भी भरे रक्खे रहते थे। मकान भी ग्राम के निकास पर था।

फलतः यह बैठक कभी सूनी न रहती थी और शाम को तो उसमें जागीरदार की बैठक से भी अधिक भीड़ हो जाती थी। ग्रामों में छोटे लड़के और युवक प्रायः बड़े बूढ़ों के सामने न तम्बाखू पीते हैं न दिल खोलकर बातें करते हैं! इसलिये ऐसे युवकों और लड़कों का शाम को यहां जमघट लग जाता था। इनके सिवाय गांव में कुछ नशे बाज थे, जिन में कई सुराभक्त बाणिक ब्राह्मण भी थे। इनके लिए भी सब से सुरक्षित स्थान यही था और इसलिए दिन अस्त होते ही वे चिमगादड़ की तरह इधर उधर देखते हुऐ नवला की बैठक में आधुसते थे। नवला भी उनकी बातें प्रकट न करता था और कदाचित् इसी खुशामद के मारे उन में से एक दो हीरा को पढ़ाने बैठ जाते थे। नवला की भी कुछ रुचि इस ओर थी। इसका कारण भी था। बनियों ने कई बार उसे हिसाब न जानने से ठग लिया था और उसकी दलील न चलने दी थी। इसीलिए वह चाहता था कि कमसे कम हीरा हिसाब करना अवश्य सीख जाये। फिर मास्टर मुफ्त के थे। दूसरा खर्च भी विशेष न था। पढ़ाने वालों ही में से एक ने उसे एक स्लेट लादी थीं और दूसरे ने वर्णमाला नामक पुस्तक। साथ ही कभी कभी भी नवला भी किसी अहल्कार के यहां एक दो बर्तन देकर जागीरदार की कचहरी से चुराए हुए कागजों, कलमों पेंसिलों और स्याही में हिस्सा बंटा लेता था।

हां उच्च कहलाने वाले लोग उसे कभी कभी हतोत्साह कर देते थे। वे कहते थे, "अरे! कहीं कुम्हार भी पढ़ सकते हैं। उन्हे तो भगवान ने बनाया ही कुम्हार है! क्यों व्यर्थ सिर पचाता है?" इन

बातों से नवला भ्रम में पड़ जाता था। कभी तो वह सोचता था कि "कुम्हार भी मनुष्य है, फिर वह क्यों नहीं पढ़ सकता ? उसमें गुण क्यों नही हो सकते ?" कभी सोचता कि "शायद इनका ही कहना ठीक हो ? कहीं भी तो कुम्हार, चमार आदि ऊंचे काम करते नहीं देखे जाते !" लोग भी केवल कहते ही नहीं थे उन्हें विश्वास भी था। वे समझते थे कि "वे ही विद्या बुद्धि, उच्चतादि के ठेकेदार हैं। इन बातों का संबध जन्म से है न कि संस्कारों से"

किन्तु इन दुर्गुणी अध्यापकों में भी एक कर्मण्यतावादी था और ऐसे समय वही उसे फिर उत्साहित करता था। परन्तु एक और कठिनाई थी। हीरा स्वयम् मन न लगाता था। अध्यापक पाठ को रोचक बनाना तो जानते ही न थे, कड़वी दवा की तरह उसे जबर्दस्ती गले उतार जाने को विवश करते थे। नवला भी उन्हीं का साथ देता था। यहां तक कि एक दिन अपनी गधे हांकने की लकड़ी से ही अक्षरों को हीरा के गले उतारने लगा। किन्तु हीरा तो बुद्ध नहीं था, बच्चा था। वह बिना मिठास किसी वस्तु को कब स्वीकार करता ?

उधर घर में भी इसका प्रभाव अच्छा नहीं पड़ा। कारण नवला की लकड़ी खाकर हीरा रोता हुआ मां के पास पहुँचा और माँ ने सारा घर सिर पर उठा लिया। वह चिल्ला चिल्ला कर कहने लगी।

"अह ! आगये बड़े मारने वाले ? नौ महीने पेट में रक्खें तब मालूम हो कि बेटा —बेटी कैसे होते हैं ? मेरा तो बिना पढ़े ही अच्छा है। कौन सी कचहरी करनी है ! पढ़ने से ही इसे कौन अहलकारी देदेगा काम तो बरतन घड़ने का ही करना पड़ेगा ?"

नवला को तो इससे कुछ चिन्ता न हुई, किन्तु मास्टर रामलाल भेद खुलने के डरसे सन्नाटे में आगया। वह नवला से गिड़गिड़ा कर

बोला " इसे चुप कर दीजिए। कोई सुन लेगा तो अभी जांच शुरू होगी कि कौन पढ़ाता है ? क्यों आता है ?"

नवला ने कहा, "क्या डर है ! पढ़ाना कोई पाप थोड़े ही है ! और इसके सिवाए यह किसी से कुछ कहेगी तो मैं इस की हड्डियां नरम न कर दूंगा ?"

मास्टर बोला, "किन्तु ऐसा अवसर ही क्यों आने दिय ? जा आखिर स्त्री है !

यह बात नवला की भी समझ में आगई और वह कुम्हारी को समझाने लगा। किन्तु कुम्हारी का तो स्वर मानों समझाने से और भी ऊंचा चढ़ने लगा। तब उसने आंखें दिखाईं। ऐंक दो खरी खोटी सुनाई किन्तु व्यर्थ ! फलतः नवला को भी क्रोध आगया और उसने बोहनी के तौर पर, रेंक उठने के अपराध में एक गधे को कमर पर एक डण्डा फटकार दिया। कुम्हारी भी समझ गई कि अब दूसरा वार उसकी कमर पर होगा और इसलिये अपनी रागिन बन्द करके घर में चली गई।

उस दिन से नवला और मास्टरों ने दूसरा मार्ग निकाला, अब हीरा को पीटा न जाता, उसे प्रलोभन दिया जाता और पढ़ाई को रोचक बनाया जाता। प्रत्येक बात रोचक ढंग से सिखाई जाती और उसके लाभ बताये जाते। साथ ही जिस दिन उसे पाठ अच्छा याद होता, उस दिन उसे थोड़ा गुड़ और खोपरा खाने को दिया जाता। दूध भी मिलता। इन सब उपायों का फल यह हुआ कि हीरा स्वतः ही मन लगाकर पढ़ने लगा और थोड़े ही दिनों में अटक अटक कर आगे के पाठ स्वयम् पढ़ लेने का अभ्यास हो चला। किन्तु सबने देखा कि उसका मन कहानियों के ढंग पर लिखे हुए पाठों में विशेष लगता था।

(२)

अकस्मात गांव में एक दिन रासधारी आगए। सब ग्रामीण तमाशा देखने गए। हीरा भी गया। ध्रुव-लीला का खेल था। हीरा

के चित्त पर इसका बड़ा प्रभाव हुआ । इसी प्रकार दूसरे दिन प्रह्लाद-लीला हुई । हीरा ने वह भी देखी । उसमें कुम्हार की हरि भक्ति और आबे में से बिल्ली के बच्चे आदि जीवित निकलना देख कर तो हीरा गदगद ही हो उठा । उसने वहीं अपने पिता से इन लीलाओं की पुस्तकें ला देने का अनुरोध किया । किन्तु नवला इन पुस्तकों के मिलने का ठिकाना न जानता था । अतः उसने मास्टरों से चर्चा की ।

ग्राम में एक टूटे फूटे पन्डित भी थे । इनके कुछ जागीरथी । जागीरदार के यहां से समय समय पर दान दक्षिणा भी पाते थे और साधारण भजनों ख्यालों, लीलाओं आदि की पुस्तकें भी रक्खा करते थे हां, मूल्य दुगुने से कम न लेते थे । यहीं नहीं भाख भी मांगते थे । कहते थे यह ब्राह्मण का अधिकार हैं । इसे नहीं छोड़ना चाहिए । इनके कुटुम्ब में कोई नहीं था । केवल स्त्री थी । सन्तान के नाम पर भी शून्य ही था । फिर भी वे बड़ी कोर कसर से दिन निकालते थे । कभी बिना पैबन्द का वस्त्र उन के शरीर पर न देखा जाता था । घी तो वे खाते ही न थे । कहते थे "जिस दिन घी खा लेता हूं उसी दिन खांसी हो जाती हैं ।" हां, तम्बाखू खाते थे । उनकी धार्मिक श्रद्धा कैसी थी सो तो ईश्वर जाने । किन्तु तिलक वे अवश्य बिना स्नान किये भी लगा लेते थे । साथ ही ऐक माला भी हरदम हाथ में रखते थे । वह उनके हाथ से दो ही अवसरों पर अलग रक्खी जाती थी । एक तो ग्राम और आस पास की गौवे स्वयम् मोल लेकर बूचड़ों को देने के समय और दूसरे जागीरदार के यहां बलि चढ़ाये गए भैंसे का सिर लेने के समय । कारण कि इन कामों को आवश्यक समझते हुऐ भी वे निषिद्ध मानते थे ।

दूसरे दिन रामलाल इन्हीं पण्डित जी के यहां ध्रुव लीला और प्रह्लाद-लीला की पुस्तकें लेने पहुँचा । पण्डितजी उस समय हथेली में तम्बाखू मसल रहे थे । बोले, "बैठो ? किसके लिए चाहिए ?"

रामलाल बोला, "वह नवला का छोकरा तमाशा देख, जिद्द पकड़ गया हैं। उसी के लिये चाहिए ?"

पण्डितजी बोले, "किन्तु तुम भी कैसे आदमी हो। शूद्र को पढ़ाते हो ? भला कहीं शूद्र भी पढ़ सकता है ! यह तो बालू में से तेल निकालना है ?"

मास्टर बोला, "इसमें क्या है पण्डितजी। पढ़ना तो सबके लिये अच्छा ही है।"

पण्डित बोले "अच्छा है, किन्तु मैं कहता हूँ कि शूद्र पढ़ ही नहीं सकता।

"क्यों ?"

"इस लिए कि वह शूद्र है भगवान को उसे मस्तिष्क शक्ति देनी होती तो उसे उच्च कुल में जन्म देता ?"

"तो क्या उच्च कुल में पैदा हुए व्यक्ति के अतिरिक्त और कोई पढ ही नहीं सकता ?"

"नहीं उच्च गुणों को नीच कैसे ग्रहण कर सकता है ? काक मोती कैसे खा सकता है ? मोती तो हन्स ही खा सकता है।"

मास्टर बोला, "किन्तु काक और हन्स तो दो भिन्न भिन्न योनियों के पक्षी हैं। कुम्हार तो मनुष्य ही है।

पण्डितजी मुंह में तमाखू डालते हुए बोले, "मनुष्य हो कर भी शूद्र है।'

किन्तु मास्टर को भी आज दिल्लगी सूझी थी। बोला, "शूद्र का अर्थ है अज्ञान अवस्था और इसीलिए जन्म से सब शूद्र पैदा जाते हैं। जैसा मनु ने कहा है कि —

जन्मना जायते शूद्रः संस्काराद्विजोच्यते ?'

पण्डितजी मुंह बनाकर बोले, " वह और बात है। तुम शास्त्र का रहस्य क्या जानो ! शूद्र तो पढ ही नहीं सकता।"

मास्टर हंसकर बोला, " किन्तु वह लड़का तो पुस्तकें पढने लग गया है ?"

पण्डितजी बोले:—संभव है किसी पूर्व जन्म के संस्कार से सीखने की शक्ति उसमें हो, किन्तु सीख गया तो भी वह उसका दुरुपयोग ही करेगा ?'

मास्टर बोला, " क्यों ! इसका क्या ठेका है !"

" ठेका ही है भैया ! हमारी बात गांठ बांध लो। कलाल को गंगाजल दोगे तो भी वह उसे मदिरा में ही मिलाकर पीवेगा। इसी प्रकार शूद्र से कभी विद्या, धन और शक्ति का सदुपयोग नहीं हो सकता।" कहकर पण्डितजी ने पुस्तकें लादीं।

मास्टर भी पुस्तकें लेता हुआ बोला, " अच्छा पण्डितजी जीवित रहे तो इसका फल देखकर ही निर्णय करेंगे। फिर या तो हम आप के चेले हो जायेंगे या आपको "- ... --- "

* * *

हीरा को ये पुस्तकें क्या मिलगईं उस पर पढने का भूत सवार हो गया। दिन रात वह उन्हीं को पढने में व्यस्त दिखाई देने लगा, दिन भर वह श्रम करके उनके पद्य याद करता और रात को आने वालों से उनके गायन की विधि सीखता। फिर जंगल में जाकर अकेले में उन गायनों को अलापता।

इसका फल भी विचित्र हुआ। कोरे हृदय पर प्रत्येक बात का स्वभावतः रंग गहरा ही चढ़ता है। हीरा के हृदय पर भी इन पुस्तकों के भावों का गहरा रंग चढ गया। अब वह प्रायः नवला से धर्म—कर्म पर

ऊट पटांग प्रश्न किया करता। कभी कभी आने वालों के चरित्र की
आलोचना करता। सौभाग्य से इस संबंध में नवला के विचार
उसके लिए उपयोगी ही निकले। कारण नवला स्वयम् दुर्व्यसनी न थी
और यद्यपि उसके यहां सब श्रेणी के व्यक्ति आते थे, तथापि
तमाखू पीने के सिवाए और किसी नशे में भाग न लेता था। इसीलिए
जब हीरा उससे इन बातों के संबन्ध में प्रश्न करता तो वह निस्संकोच
उन व्यसनों को बुरा बता देता था। हां तमाखू संबंध प्रश्नों पर वह
असमंजस में पड़ जाता था। इसका उत्तर वह इसके सिवाय कुछ न दे
सकता था कि आजकल अधिकतर लोग तमाखू पीते हैं और इसके कारण
कुछ लोग सब जगह आ बैठते है!" किन्तु यह युक्ति हीरा के गले न
उतरती। सार यह कि इन सब बातों ने हीरा के चरित्र निर्माण में सहायता
ही दी। उसे इन दुर्व्यसनों के बीच रहकर भी उनसे घृणा ही बनी
रही।

(३)

इसका फल विशेष रूप से नवला के मरने पर प्रकट हुआ। कारण
उसके मरते ही हीरा ने मण्डली एकत्र होने के सब साधन दूर कर दिये।
अलबत्ता अपने मास्टर के लिये उसके हृदय में कुछ आदर था और
उसका वह सत्कार करता था। किन्तु मण्डली टूट जाने के कारण उसने
स्वयम् आना जाना बन्द कर दिया था।

किन्तु इस व्यवस्था से जहां हीरा का घर सारे विकारों से मुक्त हो
गया, वहां एक नई कठिनाई भी पैदा होगई। हम बता चुके हैं कि एक
जागीरदार की प्रजा होने के कारण नवला का जीवन सुखमय और
सन्तोषमय न था। किन्तु इस मण्डली के कारण उस दुख की कटुता
उसे पूर्णतः अनुभव न होती थी। जब वह काम से निश्चिन्त होकर इस
मण्डली में आ बैठता और स्वार्थ के लिये कितने ही उच्च कहलाने
वाले भी उसके साथ प्रेम और आदर युक्त भाव से बातें करने लगते

तब वह सारे दुखों को भूल जाता । इसके अतिरिक्त मण्डली नशे बाजों की थी और इसलिये उसमें मनोरंजन की सामग्री प्रचुरता से रहती थी। कोई भंग छानता था तो कोई गांजा धोता था । कोई प्याले चढ़ाता था कोई चण्डू तैयार करता था, कोई झोला खाता था। जो कोई तुतलाता था । कोई गाता था कोई हंसता था । और कोई अपने घर की सारी कहानी सुनाता था । इन सब द्वन्दों में उसका ऐसा समय जब काम न होने से मनुष्य अपने दुख—सुखों पर विचार करता है, सरलता से निकल जाता था । अब वह बात न रहने से अपनी हीन अवस्था का चित्र हीरा के सामने अपने कटुतम रूप में प्रगट होने लगा ।

पुस्तकों ने उसमें स्वाभिमान और सत्य, धर्म आदि के भाव पैदा कर दिये थे । उधर पिता के जीवन काल में वह व्यावहारिक जीवन से सर्वथा दूर रहता था और इसलिये उसे उसके गुण दोषों का पता न था किन्तु अब उसने देखा कि पुस्तकों की दुनियां से यह दुनियां सर्वथा जुदी है यहां सत्य नहीं झूठ का व्यापार है । प्रेम नहीं भय शासन करता है । धर्म नहीं स्वार्थ मनुष्य का जीवन ध्येय है । अब उसे दिन भर बेगार में तो दौड़ना ही पड़ता, दुत्कारे भी खाने पड़ते ।··· ···वह हाथ जोड़ता तो भी दूसरे 'रे तू से हो" बात करते । कोई उससे मनुष्य की तरह बोलता ही नहीं । जो आता पशु की तरह पकड़ ले जाता । फिर देना लेना कुछ नहीं । मजदूरी और मूल्य का नाम ले तो जूते और डण्डे तैयार थे । अतः यह जीवन उसे असह्य प्रतीत होने लगा । उसकी यह समझ में ही न आता था कि क्यों वह केवल कुम्हार होने के कारण इन अत्याचारों का पात्र है !

एक दिन वह इन्हीं बातों पर विचार करता कुछ अनमना होकर बैठा था कि उसकी माता आगई और उसे उदास देख कर कारण पूछा "जागीरदार की कचहरी में तो कई मुझ से भी कम पढ़े हुए काम करते हैं तू मुझे भी वहां नौकर करा दे न ।'

कुम्हारी बोली, "अपने को ऐसी नौकरी कौन देता है बेटा। अपन तो कुम्हार ठहरे!'

"तो इसमें कुम्हार का क्या? ये तो पढ़ाई और काम पर है?'

"नहीं बेटा? यहां गुण नहीं देखा जाता, जाति देखी जाती है।

"और यह बेगार भी इसीलिये ली जाती है कि हम कुम्हार हैं?"

"और क्या"!

और अपन कुम्हार का काम छोड़ दें तो?"

"छोड़ने कौन देता है बेटा!'

"क्यों इसमें भी जबरदस्ती होती है क्या?'

"हां बेटा! सुना नहीं उस दिन रूपा चमार ने मरे जानवर खींचना छोड़ दिया तो सबने मिलकर आकाश-पाताल एक कर दिया। विचारे पर मार पड़ी सो तो पड़ी, कैद भी कर दिया गया और अन्त में फिर वही काम करने पर छुटकारा पाया।'

"यह तो बड़ी जबरदस्ती है!"

जबरदस्ती तो है ही बेटा। जबरदस्त मारे और रोने भी न दे

"तो ये किस हक से औरों पर ऐसी जबरदस्ती करते हैं?"

कुम्हारी सीधी-साधी थी। बोली, "हक तो डण्डे का है बेटा। वैसे वे गांव के मालिक हैं। रामजी के वंश के हैं फिर लोग कहते हैं कि उन्हें तो भगवान ने बनाया ही इसलिये है। इसीलिए जोर जबरदस्ती करते हैं।"

किन्तु हीरा को इस उत्तर से सन्तोष न हुआ। उसने सोचा, "राम ऐसे प्रजा पीड़क नहीं होसकते। वे ऐसे होते तो आज उनकी पूजा न होती

क्या ? तब, ये राम के वन्शज बन कर कैसे ऐसे काम करते हैं।' किन्तु इस प्रश्न का उत्तर कौन दे ? रामचरित्र तो उसने स्वयम् भी न पढ़ा था। हां "रामायण" की बात सुनी थी, आज उसकी इच्छा उसे पढ़ने की हो आई। उसने सोचा, यदि राम के वन्श होने से उन्हें यह अधिकार है तो उसमें अवश्य इसका वर्णन होगा। किन्तु रामायण मिले कहां ? आखिर उसने रामलाल से ही कहा। रामलाल के पास रामायण थी भी। अतः उसने कुछ दिन के लिये उसे देदी। हीरा रात्रि के समय नित्य उसे पढ़ने लगा। किन्तु उसमें तो बेगार तो दूर क्षुद्र व्यवहार का भी नाम न था। वहां तो उल्टे राम निषाद को गले लगाते और शबरी के झूठे बेर खाते दिखाई दिये।

हीरा झुंझला तो रहा ही था बोला, "मुझ से तो अब ये बेगार नहीं होती ?"

माताने कुछ चकित होकर कहा, "बेगार नहीं होती तो क्या करेगा बेटा ! तू और क्या काम कर सकता है ?"

हीरा बोला, "और काम क्यों नहीं कर सकता।"

रामायण के कथानक से उसके ग्राम के स्वामी और उच्च लोगों की एक भी बात ने मेल न खाया। हां, रावण की मण्डली से उन का व्यवहार बहुत कुछ मिलता था। किन्तु ऐसी बात मुंह पर लाना तो मृत्यु को आमन्त्रण देना होता ?

सार यह कि इन सब बातों ने उसकी वर्तमान अवस्था अधिक असह्य ही बनाई। यहां तक कि प्रतिदिन उसे प्रह्लाद की तरह सत्याग्रह करने की उमंग आने लगी। किन्तु अकेला होने के कारण उसका साहस न पड़ा। अन्त में उसने सोचा न हो तो इस ग्राम को ही छोड़ दूं, कहीं अन्यत्र चल रहूं। सोचकर माता से चर्चा की। किन्तु वह

बोली, "अन्यत्र जाने से क्या होगा ? अवस्था तो जहां चलेगा वही यही मिलेगी। भेड़ पर ऊन कौन छोड़ता है ?'

हीरा बोला, "तो क्या सर्वत्र यही हाल है ?"

कुम्हारी ने कहा—सब जगह यही बात है बेटा ? हां कहते हैं कि अंग्रेजी राज्य में बेगार नहीं है। लेकिन वहां मंहगी बहुत है। फिर घर छोड़ना क्या सरल काम है ?"

घर छोड़ने का प्रश्न हीरा को भी कठिन दिखाई दिया। ग्रामीणों में गृह मोह होता भी बहुत है। पहले उसने इस ओर ध्यान न दिया था। अब माता के कहने से उसका भी गृह मोह जागृत हो उठा। उसने सोचा, "ठीक तो है। घर कैसे छोड़ा जा सकता है ? यहां मेरे पीढ़ियों के स्मृति चिन्ह हैं। बाल-मित्र हैं, सगे सम्बन्धी हैं। प्रपिता के लगाये कुछ वृक्ष हैं। पिता मह के बनाये मकान । ये सब कैसे छोड़े जा सकते हैं ? फिर बिल्कुल अपरिचित स्थान में रहा भी कैसे जायेगा ?'

(४)

अकस्मात हीरा का भाग्य जागा। एक दिन जागीरदार सिंह को शिकार को गया। हीरा को भी नियमानुसार पानी का घड़ा सिर पर लेकर बेगार में साथ जाना पड़ा। भरी दुपहरी का समय था। गर्मी की ऋतु थी, पैरों में जूते न थे। किन्तु क्या करता ? जबरदस्त की आज्ञा थी, जाना ही पड़ा।

यथा समय सब जंगल में पहुँचे। हीरा को एक सेवक सहित जागीरदार से थोड़ी ही दूर पर एक झाड़ी में बैठने की आज्ञा मिली ये बैठ गये। अहेरियों ने हल्ला गुल्ला मचाया और सिंह निकला लोग बड़ी उत्सुकता से उसे देख पाने की प्रतीक्षा करने लगे इस समय जागीरदार ने गोली चलाई। हीरा झट यह समझ कर कि सिंह मर गया है, देखने को खड़ा होगया। किन्तु यह क्या ? उसने

देखा कि सिंह मरा नहीं, एक ही छलांग में जागीरदार से दस कदम दूरी पर आ खड़ा हुआ है। यह देख कर हीरा पास बैठे हुए सेवक को दिखा ही रहा था कि सिंह ने दूसरी छलांग भरी। हीरा घबराया। उधर जागीरदार के पास खड़े हुए दो ठाकुर और एक खां साहब सिर पर पैर रख कर भागे। जागीरदार भी इस प्रकार काल को सिर पर आया देख कांप उठा। उसके हाथ से बन्दूक छूट पड़ी अहेरियों में कोलाहल मच गया। किन्तु करते धरते किसी से कुछ न बना। तत्क्षण हीरा, मानों किसी अज्ञात शक्ति की प्रेरणा से झपटा और भागते हुए खां साहब की बन्दूक छीन सिंह पर छोड़ दी

भावी प्रबल होती है। निशाना ठीक बैठा। गोली सिंह के मस्तक को फोड़ कर कमर में जा निकली और वह जहां का तहां ढेर होगया। जागीरदार बाल बाल बच गया। यह सब पलक मारते में होगया।

कुछ क्षण में संपट बन्धने पर जागीरदार खड़ा हुआ। साथियों ने भी जब उसे सुरक्षित और खड़े देखा तो पास आ पहुँचे। कोई बोला, "बड़ा बदजात जानवर था। सीधा तीर की तरह आया था!'

दूसरा बोला, "लेकिन हुजूर के हाथ से कहां जा सकता था?"

किंतु जागीदार ने कहा "नहीं, मेरी गोली से नहीं मरा है;" इस पर लोग मारने वाले की खोज में इधर उधर देखने लगे। किन्तु कोई न बोला। बोलता भी कौन? हीरा तो बन्दूक मार्ग में ही रख चुपचाप अपनी जगह जा बैठा था। उसे भय था कि कहीं अकुलीन के हाथ से यह कार्य भी दोष न मान लिया जावे। जब खां साहब ने देखा कि हीरा नहीं बोलता है, तब वे आगे आये और बोले "जनाब। इस बन्दूक ने मारा है। मैंने आज गोली भी छांट कर डाली थी।" अब क्या था खां साहब की प्रशंसा के पुल बध गये। किन्तु बात अधिक देर नहीं दबी रही। ग्राम में पहुँचने पर अवसर पाते ही जागीरदार के सेवक ने सच्ची बात

कह सुनाई। जागीरदार ने भी सुनते ही हीरा को बुलवाया और ५००) रुपये इनाम देने की आज्ञा दी। कामदार की आंखें चढ़ गईं। धीरे से बोला, "हुजूर कुम्हार है। इसके लिए तो सौ ही बहुत होंगे।" परन्तु हीरा ने कुछ भी लेने से इन्कार कर दिया।

उसने, कहा "यदि मुझे आपको पुरस्कार ही देना हो तो मुझे इस बेगार से छुड़ा दीजिए और कचहरी में कोई काम दिला दीजिए, मैं पढ़ा लिखा हूं।"

जागीरदार ने यह बात स्वीकार करली और कामदार से उसे अहलकारों में रख लेने को कहा। कामदार बोला, "हुजूर। कुम्हार हलकारों में।"

ठाकुर ने कहा, "हां इसमें क्या है? जब वह पढ़ा लिखा है तो अहलकारों में क्यों नहीं रक्खा जा सकता?" कामदार समझ गया कि इस समय बहस बेकार है। अतः हीरा को कचहरी में लेगया।

* * *

इधर हीरा ने थोड़े ही दिनों में कचहरी के सब कामों से जानकारी प्राप्त करली। यहाँ तक कि प्रायः पुराने अहल्कार उससे सलाह लेने लगे। जागीरदार की भी उस पर कृपा थी। उसने उनके प्राण तो बचाये ही थे, पीछे पुरस्कार स्वीकार न करके, उनके हृदय में और भी आदर का स्थान प्राप्त कर लिया था। फलतः वे भी उससे प्राय. काम काज के बारे में कुछ सलाह कर लिया करते थे। हीरा भी यद्यपि किसी का नाम लेकर उसकी बुराई न करता था तथापि कार्य की त्रुटियां ठाकुर को बताता रहता था।

* * *

कुछ समय बाद कामदार दूसरी जगह किसी विशेष धनाढ्य व्यक्ति के यहां भेज दिया गया और जागीरदार ने हीरा को कामदार का

पद दे दिया पुराने कर्मचारी इस पर बहुत कुढ़े किन्तु विवश थे। कारण उन्हें सिवाय इसके कि वह कुम्हार है, और कोई बात उसके विरुद्ध कहने को न मिलती थी।

* * *

इधर हीरा धार्मिक तो पहले हीं था, अब उसे अपने को इस पद के योग्य प्रमाणित करने की भी धुन लग गई अतः वह विशेष सावधान रहने लगा और यद्यपि जिन्होंने कभी उसके बुरे दिनों में उसके साथ बुराई की थी वे उसकी इस उन्नति से सशंकित हुए थे, तथापि हीरा ने कभी मन में उनके प्रति बुरी कल्पना न की। यही नहीं वह इस उन्नति के बाद भी उतना ही नम्र बना रहा, जितना अपनी गरीबी में रहता था।

हां अब उसकी धर्म-भीरुता विशेष बढ़ गई थी। कारण भी था वह अपनी इस उन्नति को न तो अपने प्रयत्नों का फल समझता था न आकस्मिक घटनाओं का। उसकी दृष्टि में यह सब उसकी सच्चे हृदय से सत्य और ईश्वर के प्रति भक्ति का फल था और चूंकि उसे यह भक्ति ऊपर कथित पुस्तकों से प्राप्त हुई थी, अतः उसकी उन पुस्तकों और उनके सिद्धान्तों पर और भी भक्ति बढ़ गई थी। अब वह नित्य उनका नियमित रूप से पाठ तो कराता ही था, अपने जीवन को भी उनके अनुकूल बनाने की चेष्टा विशेष रूप से करता था।

किन्तु जागीरों और देशी राज्यों में कर्मचारी नामक जैसे आखेट प्रिय जन्तु रहते हैं, उनमें ईमानदारी की गुजर कहां? उनमें तो उनके जैसा ही निभ सकता है। अतः कुछ ही दिनों में वे सब उसके शत्रु बन बैठे और शत्रु न बनते तो करते भी क्या? उसके अमल में न वे रिश्वत खा सकते थे न झूठे मुकदमें घड़ सकते थे। न किसी से मुफ्त काम ले सकते थे न जगीर में आने वाली किसी वस्तु का मूल्य दुगना

चौगुना लिख सकते थे। हीरा सब अत्याचार भुगता हुआ था और इसीलिये उसे इनके सब हथकण्डों का पता था। इसमें सन्देह नहीं कि इससे प्रजा और जागीर दोनों को लाभ हुआ, किन्तु कर्मचारियों को तो हानि ही हुई। ऐसी अवस्था में यह उनकी दृष्टि से स्वाभाविक था।

अब उन्होंने भी अपनी अहलकारी दिखानी शुरू की। जान बूझ कर प्रत्येक काम बिगाड़ा जाने लगा और उसका दोष एक स्वर से हीरा के सिर पर थोपा जाने लगा। उसके प्रत्येक कार्य में दोष ढूंढे जाने शुरु हुए। किन्तु हीरालाल ऐसी बातों से घबराने वाला न था। उसने अपनी निर्दोषिता के सहारे निर्भय होकर इन बदमाशियों का सामना करना आरम्भ किया। अब तक वह केवल अधिकार का दुरुपयोग करने के मार्गों को बन्द करता था, कर्मचारियों से कुछ न कहता था। अब उसने जिसके विरुद्ध काफी प्रमाण मिले उसे दण्ड देना भी आरम्भ किया। इस चाल से कर्मचारी घबराऐ। कारण वहां अछूता कोई था नहीं। परिणामतः कुछ तो सीधे होगए और शेष निकाले गये।

उधर हीरालाल ने प्रजा के सुधार की दिशा में भी कुछ प्रयत्न किये। वह अपने यहां की मण्डली की बदौलत बचपन से ही बहुत से सामाजिक दोषों से परिचित होगया था। अब उनका उसे और भी अधिक ज्ञान होगया और शिक्षा के लाभों का विश्वास दिलाने को तो उसका अपना ही जीवन पर्याप्त था। अतः उसने इन सब बातों को ध्यान में रखकर पाठशालाओं और औषधालयों की तो स्थापना की ही और भी कितनी ही सामाजिक और राजनैतिक संस्थायें स्थापित कर उनके संचालन में सहायता देनी प्रारम्भ की फल यह हुआ कि सारी प्रजा कामदार और जागीरदार का गुणगान करने लगी।

(५)

किन्तु जब कई वर्ष बीते जाने पर भी हीरालाल का सितारा धुंधला न पड़ता दिखाई दिया तो पुराने अहलकार बहुत खिझे और उन्होंने एक

नया रास्ता हीरालाल से बदला लेने का खोज निकाला। उन्हें जागीरदार की तरुणावस्था के अनेक रहस्य ज्ञात थे। उन्होंने, यदि हीरालाल कामदार पद से न हटाया गया तो उन्हें प्रगट कर देने की धमकी दी; इस बात को भी वे जागीरदार तक ही पहुँचा कर चुप नरहे। अन्तः पुर की दासियों को मिलाकर उन्होंने वहाँ भी खलबली मचवाई। स्त्रियां वैसे ही डरपोक होती हैं, फिर ऐसी भयानक बातें! फलतः जगीरदार के लिए एक दिन भी शांति से बिताना कठिन हो पड़ा।

आखिर एक दिन अवसर देखकर उसने कहा, "हीरालाल! तुमने इन सबको इतना विरोधी क्यों बना लिया है?" हीरालाल ने सब अवस्था बताई।

जागीरदार बोला, "फिर भी इन लोगों को इतना विरुद्ध करके तुमने अच्छा नहीं किया हैं। जानते हो, ये लोग पुराने नौकर हैं। जागीर की बहुत सी बुरी-भली बातें जानते हैं। ऐसी हालत में ये बहुत कुछ हानि पहुँचा सकते हैं।" उसने एक पत्र हीरालाल को दिया। हीरा ने पढ़ा पत्र गुम नाम था और उसमें चार खून के और दो बलात्कार के मामलों को प्रगट करने की धमकी दी गई थी।

हीरालाल ने पूछा, "तो क्या ये बातें सच हैं?"

ठाकुर बोला, "जानते हो, ठिकाना है, कितनी ही बातें होती हैं।"

"तो ये लोग तो अपनी मनमानी कर पावें तभी चुप हो सकते हैं?"

जागीरदार बोला, "क्या हानि है! लेते खाते भी है तो रय्यत से। अपने बाप का क्या बिगड़ता है! इसलिए अच्छा है, सोच विचार कर इन लोगों का मन मना लो।"

इस बातचीत से हीरालाल बड़े घपले में पड़ गया। वह अपनी ओर से सब बातों के लिए तैयार था, किन्तु जागीर के दोषों के लिए क्या

करे ? तब ! क्या इन लोगों को प्रजा को लूटने की आजादी दे दें ? क्या यह उनके पापों में भाग लेना न होगा ? किन्तु ऐसा न करें तो और मार्ग ही क्या है। ईमानदारी से रहने के कारण उसके पास बहुत धन भी इकट्ठा न हुआ था। जो कुछ हुआ था उससे एक मकान बनवा लिया था और विवाह का ऋण उतारा था। तब क्या करे ! त्याग पत्र दे दे और फिर बर्तन बनाने प्रारम्भ करे। तब तो विपक्षियों की और भी बन आवेगी उन्हें खूब हंसी उड़ाने का अवसर मिलेगा। साथ ही उसे इन लोगों से घृणा भी हुई वह सोचने लगा "कितनी नीचता है ? केवल पाप से रोकने पर भी शत्रुता करते हैं। झूठ कपट, रिश्वत अनाचार को चतुराई मानते हैं और फिर भी उच्चता का ढोंग करते है। दूसरों को क्षुद्र गिनते हैं। किन्तु क्या यह वास्तव में उच्च हैं ?" सैंकड़ों प्रश्न उसके हृदय में उथल पुथल मचाने लगे। उस दिन उससे कुछ काम न हुआ ! वह जागीरदार के बाग की ओर चला गया और वहां एकान्त में बैठ कर इस समस्या पर विचार करने लगा।

किन्तु अन्त में सत्य की ही विजय हुई। कई घण्टे विचार करने के पश्चात हीरालाल ने साभिमान प्रतिज्ञा की, 'कोई चिन्ता नहीं। मिट्टी के बर्तन बनाकर उन पर ही गुजर करूंगा किन्तु अनीति में हाथ न बढ़ाऊंगा स्वार्थ के लिए धर्म नहीं बेचा जासकता "

इस निश्चय से उसके मन की सारी उथल पुथल दूर हो गई। उसके हृदय में मानों शांति सुरसरी लहरा उठी। क्षण भर में उसके मुख पर वही, शांति, वही कांति और वही मुस्कराहट विलास करने लगी। मानों अग्नि में तपकर स्वर्ण कुन्दन हो गया।

दूसरे दिन हीरालाल ने त्याग पत्र दे दिया। जागीरदार ने कहा "त्याग पत्र देकर क्या करोगे ?" हीरालाल बोला. "और कुछ नहीं तो मेरा पुराना धन्धा तो कहीं गया ही नहीं हैं। मैं नौकरी के लिए ऐसे कामों में भाग नहीं ले सकता।

जागीरदार बोला, " मेरी समझ में तो तुम्हारी बात नहीं आती। इस में तुम्हारा क्या है। जो करेगा सो भरेगा। आखिर लोग क्या कहेंगे। हाथी पर चढ़ कर गधे पर चढ़ना क्या अच्छी बात है ?

हीरा ने कहा, " क्षमा कीजिये। मेरी दृष्टि में पापकी उपेक्षा करना और स्वयम् पाप करना बराबर ही हैं। विशेषतः उस पद पर रहकर- जिसका काम ही ऐसी बातों को रोकना और प्रजा की रक्षा करना है "

जागीरदार बोला, " ऊंह यह तो राज-काज है। इसमें धर्म पर डटे रहने से काम थोड़े ही चलता है।"

किन्तु हीरालाल अपनी बात पर डटा रहा। उसने त्याग-पत्र वापिस नहीं लिया। लाचार ठाकुर ने वेतन घर बैठे लेने का प्रस्ताव किया किन्तु यह भी वह स्वीकार न कर सका। उसने कहा, " जब मैं कोई काम नहीं करता तब प्रजा के दिये हुए इस धन में से वेतन कैसे ले सकता हूँ ? ठाकुर साहब चकित होगये। उन्हें अपने जीवन में हीरालाल ही ऐसा व्यक्ति देखने में आया था, जो धर्म के लिए बड़े से बड़े लाभ को ठुकरा सकता था। अतः कहना न होगा कि उन्होंने बड़ी ही अनिच्छा पूर्वक इसका त्याग-पत्र स्वीकार किया।

* * *

किन्तु हीरालाल को सिर चाक चढ़ाने की आवश्यकता न पड़ी। पड़ोस ही में एक दूसरे राज्य में अनन्तपुर नामक जागीर थी। यहां का जागीरदार नवयुवक और शिक्षित था। वह हीरालाल से कई बार मिल चुका था और उसकी योग्यता से परिचित था। अतः ये समाचार सुनते ही उसने हीरालाल को अपना कामदार नियुक्त कर दिया।

हीरालाल के दिन आनन्द से कटने लगे। यहां उसे वेतन भी बसन्तपुर से अधिक मिलता था। एक लड़का भी होगया था। हां, एक

कठिनाई थी। घर बसन्तपुर में होने से उसे नित्य अनन्तपुर से बसन्तपुर आना पड़ता था। फिर मार्ग में एक नदी और विकट जंगल था इसलिये यह आना जाना भी सदा निर्बाध न होता था। कभी उसका चोर डाकुओं से सामना हो जाता था, कभी नदी में बाढ़ आई हुई होती थी। फलतः कभी कभी वह बिना पूर्व सूचना के भी घर से अनुपस्थित हो जाता था और इससे उसके घर वालों को बड़ी चिन्ता होती थी। एक बार तो ऐसे ही अवसर पर रोना धोना तक मच गया था। उस दिन नदी में बाढ़ आई हुई थी। फिर भी धन लोभ वश आई बाढ़ में ही कीरों ने एक राजपूतों की बारात को उतारना स्वीकार कर लिया। किन्तु नाव बीच धार में आकर उलट गई। सौभाग्य से उस समय किनारे पर हीरा खड़ा था। उसने तुरन्त अपनी धोड़ी झोंक दी। कुछ कीरों ने भी उद्योग किया और इस प्रकार प्रायः सब आदमी बचा लिये गए। केवल दो स्त्रियां और एक पुरुष उनकी पहुँच से आगे निकल गये। किन्तु वे डूबे न थे। उनके हाथ एक तख्ता आगया था और वे उसी के सहारे तैरते बहे जा रहे थे। हीरा ने औरों से निबट कर उनका पीछा किया और पहर रात्रि गए उन्हें लेकर दो तीन कोस आगे जाकर किनारे लगा। किन्तु लोगों को उसके किनारे लगने की आशा न थी। फलतः उन्होंने उसके घर उसके बह जाने के सम्वाद भेज दिये।

इस घटना के बाद अनन्तपुर जागीरदार ने इस बात पर बहुत जोर दिया कि वह अपने बाल बच्चे वहां ले आवे। वे उसे एक अच्छा मकान भी देने को तैयार थे, किन्तु हीरालाल से पितृ भूमि का मोह न छूटा। इसके अतिरिक्त उसे ऐसे साहसिक कार्यों में कुछ आनन्द भी आता था। वह समझता था कि और कुछ नहीं तो इसी बहाने कुछ लोक सेवा का अवसर मिल जाता है।

(६)

बसन्तपुर जागीरदार का भी एक लड़का था। नाम था उद्यमसिंह।

इसकी आयु इस समय प्रायः २५ वर्ष की थी। जागीरदार नें इसे योग्य बनाने की भरपूर चेष्टा की थी। इसीलिये अपनी हैसियत से ऊपर खर्च करके उसे कई वर्ष महाराजा कॉलिज में रक्खा था। किन्तु इतने पर भी उद्यमसिंह विशेष योग्य नहीं बना। सुधार तो दूर उल्टा बिगाड़ हो गया। अंग्रेज अध्यापकों ने उसे अपनी व्यवहारिक नीतिज्ञता तो नहीं सिखाई, हां अपने धर्म के प्रति उसमें अश्रद्धा अवश्य बढ़ा दी। साथ ही विलास और आडम्बरों को उसका जीवन ध्येय बना दिया। संक्षेप में कहें तो उन्होंने सबसे अधिक प्रयत्न उद्यमसिंह को विलायती व्यापारियों का ग्राहक, एजेंट और प्रचारक बनानें का किया। इसमें वे सफल भी हुए। उद्यमसिंह चाहे और कुछ न सीखा हो, शौकीन परले सिरे का बन गया। यहां तक कि विभिन्न प्रकार की वस्तुओं के मिलने के जो पते उसने संग्रह किये थे, उनसे कई रजिस्टर भर गये थे?

परन्तु उसकी ये सब आकांक्षायें अभी मन की मन में ही थीं। जो व्यय उसे मिलता था वह तो उसका सहस्त्रांश भी पूर्ण न कर सकता था और उससें अधिक जागीरदार देता न था। ऐसी अवस्था में स्वभावतः ही उद्यमसिंह अधिकार प्राप्ति की घड़ी के लिये चातक बन रहा था।

किन्तु कई वर्ष बीत जानें पर भी उसकी यह इच्छा पूर्ण नहीं हुई। होती भी कैसे? जागीरदार तो मरने का नाम ही न लेता था। उसका शरीर भी अभी काफी बलिष्ठ था। फलतः वह कुछ उदास रहने लगा। यहां तक की उसकी उदासी ने धीरे धीरे अध्यापकों का ध्यान उसकी ओर आकर्षित किया और वे आग्रह से उसका कारण जानने की चेष्टा करने लगे। उद्यमसिंह ने पहले तो टालाटूली की, किन्तु अंत में एक विश्वस्त अध्यापक ने उसे बहुत दबाया तो उसने सब बातें कहदीं। अध्यापक ने उसके भावों से बड़ी सहानुभूति दिखाई और भरोसा दिया कि वह सब कुछ उपाय सोचेगा।

इधर उद्यमसिंह के पथ का दूसरा रोड़ा हीरालाल भी कामदारी से हट गया था। अतः उद्यमसिंह कुछ दिन के लिए घर गया और नये कर्मचारियों से परिचय कर लौट आया।

सहसा पोलिटिकल एजेंट के दफ्तर में बसन्तपुर जागीरदार की शिकायतों का तांता बंध गया। इस पर एजेंट ने रियासत को लिखा और रियासत ने खुफिया जांच कराई। बातें प्रायः सच्ची पाई गईं। कालिज के अध्यापक भी एजेंट के मेहमान हुए। वे वहां सैर सपाटे को आये थे।

इसके कुछ दिन बाद ही जागीरदार को राजधानी में बुलाया गया। उसे कुछ भी पता न था। इसलिये जब राजधानी में आते ही उसके मकान पर पहरा बिठा दिया गया तो उसे बड़ा आश्चर्य हुआ। किन्तु यह आश्चर्य अधिक दिन तक नहीं रहा। दूसरे दिन ही उन्हें बुलवाकर दीवान ने सब कागज पत्र दिखा दिये और हुकुम सुना दिया कि वे अब अपना शेष जीवन हरिभजन में बितावें।

अब क्या था ? उद्यमसिंह की बन आई। अधिकार मिलते ही उसकी आकांक्षाओं ने ज्वार का रूप धारण कर लिया। अहल्कारों और सरदारों का भी दांव लगा। नित्य विदेशी पारसलें आने लगीं। दिन रात महल नृत्य, गान और हंसी से गूंजने लगे। नये नये विलायती सामानों से तन और भवन सज लगे। नए २ खेलों और सुख साधनों की धूम मच चली। लोगों में उद्यमसिंह का नाम उधमसिंह हो गया।

किन्तु जागीर की आमदनी कितनी थी ? थोड़े ही दिनों में रुपये के लिए हाय तोबा मचने लगी हले टैक्स बढ़े, फिर भूमि कर बढ़ा और जब इससे भी पूरा न पड़ा तो जिनके पास धन था उनके विरुद्ध मुकद्दमे घड़े जाने लगे। कितनी ही विधवायें लांछित हुईं ? कितने ही प्रतिष्ठितों की प्रतिष्ठा भंग हुई हीरालाल का भी नाम सुझाया गया, उसे लग

भूल भी कैसे सकते थे ? किन्तु उस पर हाथ डालना सरल न था। प्राय: सारे आस पास के प्रदेश उसके उपकार से बंधे थे। प्रत्येक की उसने किसी न किसी रूप में सेवा की थी। किसी को उसने डूबते से बचाया था तो किसी को लूटने से। किसी को दरिद्रता और बेकारी से मुक्ति दी थी तो किसी को रोग और अज्ञान से। स्वयं उधमसिंह के ही पिता के उसने प्राण बचाये थे। किन्तु कुछ भी हो, उसके पास धन होने का सन्देह था और इसी लिये उसका नाम सूची से कट नहीं सकता था। अन्त में एक दिन कुछ अन्य लोगों के साथ उधमसिंह ने हीरालाल को भोज दिया। उसी रात को हीरालाल का देहान्त हो गया। मन ही मन सारी बस्ती उधमसिंह की उच्चता की सराहना करने लगी। किन्तु बड़े घरों की बात थी। प्रकट बोलने का साहस किसी ने न किया।

दूसरे दिन हीरालाल के मकान पर धावा हुआ। किन्तु कम्बख्ती की मारी उसकी माता और पत्नी विरोध करने को द्वार में आ खड़ी हुईं। मुहल्ले के कुछ और लोग भी आ पहुँचे इन सब बातों ने कर्मचारियों का क्रोध जगा दिया। उन्होंने गोलियां चलादीं। फलत: बस्ती के कई आदमी घायल हुए और हीरालाल की माता अपने पुत्र के पास पहुँच गई। हीरालाल का अनाथ लड़का रामनाथ उसकी स्त्री और उसकी सम्पति ऊधमसिंह के पल्ले पड़े।

इसके बाद पण्डितजी का ओसरा आया। किन्तु उन्होंने अपनी प्रतिष्ठा बचाली। खबर मिलते ही वे उधमसिंह के पास पहुँचे और बोले, "मेरे पास तो जो कुछ हैं, हुजूर का ही है। जब और जो कुछ इच्छा हो मगवा लिया जाए" उधमसिंह ने भी पण्डित जी का अनुरोध मान लिया। रात को कुछ सर्दार और कर्मचारी भेज दिये और वे पण्डितजी को सारे भार से मुक्त कर गये। उसदिन से पण्डितजी को वैराग्य होगया। उन्होंने प्रतिज्ञा करली कि अब वे कभी संग्रह न करेंगे। साथ ही उन्हें पश्चाताप भी होने लगा। सोचने लगे, "उससे कुछ

पुण्य कर लेते, किसी असमर्थ को सहायता देते और किसी दुखी का भला करते तो कुछ पुण्य संग्रह तो होता। परलोक के लिए तो कुछ आशा रहती। और कुछ नहीं, उस धन से अच्छा खाते पीते तो भी यह तो सन्तोष रहता कि उससे सब वासनाओं की पूर्ति करली। किन्तु कुछ भी नहीं हुआ। माया मिली न राम। ऐसे संग्रह से लाभ ?" संयोग वश उसी दिन उन्हें रामलाल भी मिला और बोला, "कहिये पण्डितजी अब भी आप की वही सम्मति है क्या ?"

पण्डित बोले, "नहीं भैया रामलाल ! अब मेरी सम्मति बिल्कुल बदल गई है। मैं हारा और तुम जीते। सच तो यह है कि अवसर दिया जाय तो सभी योग्य हो सकते हैं आखिर कबीर, नन्ददास, रविदास, जैमिनी, वाल्मीक इनमें से कौन जन्म से कुलीन था। जब हीरा संयोग वश कुछ सीख जाने से ऐसा योग्य निकला तब नियमित शिक्षा पाने पर तो इन लोगों में न जाने कितने रत्न निकल सकते हैं।

"किन्तु पहले तो आप यह मानते ही न थे।"

"भैया, स्वार्थ मनुष्य को अन्धा कर देता है हम क्या करते, हमें बचपन से सिखाया ही यही गया था।"

"तो फिर इन लोगों को अपने समान उन्नति और शिक्षा का अवसर न देना धर्म है क्या ?

"धर्म कौन कहता है भाई ! यह तो सरासर पाप है। यहां कोई भले ही इस तरह से श्रेष्ट बनले। आगे तो उसे कुफल ही मिलेगा ! हां, किन्तु यह कहो कि अब करना क्या चाहिए ?"

रामलाल बोला, "करने के लिए तो शक्ति की आवश्यकता हैं। हम आप दो क्या कर सकते हैं ?"

ब्राह्मण बोला, " दो तो बहुत हैं चाणक्य तो अकेला ही था। अच्छा, कल फिर मिलना ?"

* * *

(७)

रामनाथ कुम्हार का लड़का होने पर भी उत्कर्ष के दिनों में पैदा हुआ था। उसका बाप कामदार था। कुटुम्बी सुशील थे। माता प्रेम की प्रतिमा थी। दादी उदारता का समुद्र थी। इसलिये उसके जीवन के ये आठ वर्ष सुख-समुद्र में तैरते ही बीते थे। पढ़ाई भी उसकी ऐसे ढंग से हुई थी कि उसमें उसे अपने सुख की ही वृद्धि होती जान पड़ी थी। अरुचि या दुःख से उसका बहुत ही कम परिचय था। किन्तु भाग्य-चक्र एक दम घूम गया। रामनाथ अब दास बना लिया गया। जागीरदार की थाली के बचे हुए भोजन में से निकृष्ठ अंश अब उसका खाद्य बना और इसी प्रकार उतरन-सुतरन के कपड़े उसकी पोशाक।

फिर दास भी वह जागीरदार का ही नहीं बना। उसे दासों तक का दास बनना पड़ा हर कोई उससे काम लेता था। सब उस पर हुक्म चला बैठते थे। न मानने पर चाहे जो मार बैठता था। कोई यह न सोचता था कि उसे भी थकान होती है। कष्ट होता हैं। रामनाथ भी रोकर रह जाता था। करता भी क्या? वहां उससे सहानुभूति दिखाने वाला कौन था।

उसकी माता कभी कभी उसे धैर्य बंधाया करती थी, किन्तु अब वह भी दासी बनाकर ऊधमसिंह की बुआ के यहां भेज दी गई थी। उसने कितना प्रयत्न किया था कि उसके पुत्र को उससे अलग न किया जाय! कितनी रोई चिल्लाई थी? किन्तु सब व्यर्थ हुआ। पशु की तरह वह बांध कर भेज दी गई। आखिर दासों के लिये तो यही साधारण नियम

ठहरा। अवश्य ही ग्रामवासियों को कभी कभी उसकी अवस्था पर दुःख होता था, किंतु टूटे फूटे कवेलुओं और फूंस के झोंपड़ों, एवं अस्थिचर्म वशिष्ट कान्ति विहीन, चिथड़ों से किंचित् ढके नर कंकालों के बीच में सर्वभक्षी दैत्य की तरह खड़े ऊधमसिंह के महलों और उनके झरोखों में बैठे सुन्दर विषधरों को देखकर उनकी जिव्हा तालु से चिपक जाती थी। वे उस दुख को प्रगट करने का भी साहस न करते थे।

हां, दो आदमी थे, जो इस अनीति के विरुद्ध कुछ करने पर उद्यत हो रहे थे। वे थे रामलाल और पंडित। कहना व्यर्थ है कि दृष्टि-बिंदु इन दोनों के भी जुदे न थे। रामलाल प्रायः सात्विक दृष्टि बिन्दु से कार्य कर रहा था और पंडित प्रतिहिंसा के तामसिक दृष्टि बिन्दु से। तथापि ध्येय दोनों का प्रायः एक था और इसलिये इस समय ये दोनों मिल गये थे। किन्तु आजकल ये दोनों ग्राम में न थे। ये राजधानी-अचलगढ़ गये हुए थे।

* * *

एक दिन नृत्य गान और मदिरापान से निबट कर ऊधमसिंह महल की चाँदनी पर सो रहा था। दुग्धश्वेत छत और दीवारों पर पूर्णिमा के चन्द्र की रश्मियां अन्धकार के कणों से मिलकर आंख मिचौनी खेल रही थी द्वारपर एक पहरेदार खड़ा झोंके खा रहा था और जागीरदार के सिरहाने खड़ा रामनाथ पंखा झल रहा था।

पंखा झलते झलते दस वर्षीय रामनाथ के मन में कुछ विचारों का तांता बंध चला एक दिन वह स्वयं इसी तरह सोता था। दूसरे इसी तरह पंखा झलते थे, किन्तु आज ? आज वह स्वयं दूसरों का पंखा हिला रहा है। वह सोचने लगा, "यह किन कर्मों का परिणाम है ? मैंने तो ऐसा कोई दुष्कर्म नहीं किया। ओह, एक ही दिन में क्या से क्याहो गया ? २४ घन्टे में मैं अपने कुटुम्ब में अकेला रह गया। माता की भी न जाने क्या गति हुई ?"

बाल्य अवस्था में रामनाथ ने एक बार "श्रवण" की कथा सुनी थी। तब उसने सोचा था कि मैं भी बड़ा होने पर माता पिता की सेवा कर श्रवण की तरह अपनी पितृ भक्ति का परिचय दूंगा। एक और जगह उसने "हरिश्चन्द्र" नाटक देखा था। उस दिन भी सोचा था कि वह भी अपने जीवन में हरिश्चन्द्र की तरह सत्य पर दृढ़ रहेगा। सत्य के लिये सारे कष्ट उठावेगा, घर बार त्यागेगा, किन्तु सत्य को न छोड़ेगा। वह प्रायः उस नाटक के गायनों को गुन गुनाया करता था। यहां भी उसने उस नाटक की एक प्रति छिपा रक्खी थी और अवकाश मिलते ही उसे पढ़कर उससे कुछ सान्त्वना प्राप्त किया करता था।

आज ये सारे विचार जागृत होकर उसके हृदय में चक्कर लगाने लगे। उसे यह सोच कर बड़ा दुःख होने लगा कि वे सुन्दर इच्छायें और मोहक आकांक्षायें सब ज्यों की त्यों रह गईं। सेवा करने का अवसर मिलने के पहले ही ईश्वर ने उसे मातृ-पितृ-हीन कर दिया। सत्यमय जीवन बनाने के पूर्व ही दुर्दैव ने उसे दासत्व पङ्क में फंसा दिया। इसी समय दुर्गद्वार की घड़ी ने बारह बजाए। किन्तु रामनाथ अपने विचारों में तल्लीन था। माता का प्रेम, पिता की सहृदयता, दादी का अनुराग अध्यापकों की अनुकम्पा, अपने सारे मन्सूबों का अन्त ये ही बातें रह २ सैकड़ों रूपों में उसकी आंखों के सामने नाच रही थीं। सोचते सोचते उसकी आंखों में आँसू छलछला आये; इसी समय एक छोटी सी बदली चन्द्रमा की आड़ में आगई मानो रामनाथ की अवस्था पर ही दुखित होकर चन्द्र देव ने उसकी आड़ में मुंह छिपा लिया। फलतः छत पर भी दुर्भाग्य की छाया की तरह हल्का सा अन्धकार छागया।

अकस्मात रामनाथ की आंखों से निकले हुए आंसुओं की दो बूंदे ऊधमसिंह के मुखपर गिर पड़ीं। बस फिर क्या था। वह आग बबूला हो उठा और गालियाँ देता हुआ रामनाथ की ओर झपटा। रामनाथ भय भीत होकर भागा, किन्तु छज्जे के पास जाकर ठहर गया।

आगे जाता भी कहां ! सामने तो ८० हाथ की नीचाई पर भूमि कुंए के पेंदे की तरह दिखाई दे रही थी। किन्तु क्रोधान्ध ऊधमसिंह को यह कहीं दिखाई देता था। उसने निकट पहुँच कड़क कर कहा, " क्यों, रुक क्यों गया ? भाग ! बदमाश ! हमारे सिर पर खड़ा होकर रोता है।" कह कर उसने रामनाथ की कमर पर एक लात जमाई। दूसरे ही क्षण निर्दोष बालक के मुंह से एक हल्की सी चीख निकली, फिर नीचे एक धमाका हुआ और तब चारों ओर निस्तब्ध नीरवता छागई। ऊधमसिंह वापिस आकर अपने पलंग पर लेट रहा।

ऊधमसिंह लेट तो रहा, किन्तु उसे नींद न आई। वह जानता था कि आजकल भीतर ही भीतर सारी प्रजा उसके विरुद्ध है। ऐसी अवस्था में रामनाथ की मृत्यु का न जाने क्या परिणाम निकले—यही विचार उसके हृदय में उथल-पुथल मचाए था। अन्त में उसने दरबान को बुलाकर रामनाथ को देखने भेजा।

दरबान ने लौट कर सूचना दी कि लड़का मरगया। ऊधमसिंह सन्नाटे में आगया। दरबान ने उसका असमंजस समझ कर कहा, " हुक्म हो तो रातों रात कहीं दूर फेंक आया जाय ?"

ऊधमसिंह को भी यह उपाय ठीक जान पड़ा, किन्तु फिर भी उसने कामदार को बुलवाया।

कामदार आते ही सब बातें सुनकर बोला, " अच्छी चिन्ता की आपने। ऐसे न जाने कितने काम ठिकानों और राज्यों में नित्य होते हैं। अभी इसे आनन्दगढ़ की सीमा में रखवा देता हूँ। प्रातः कुछ देर ग्राम में खोज खबर करली जायेगी और यह बात फैला दी जायेगी कि कल से वह कुछ आभूषण लेकर चम्पत हो गया है। फिर किसकी मजाल है जो चूं करे ?" ऊधमसिंह को इससे बड़ी शांति मिली और वह निश्चिन्त होकर सोगया।

(८)

आनन्दगढ़ में अलवर राज्य के प्रसिद्ध नीमूचाणा से भाग कर आए हुए कुछ छोटे राजपूत आ रहे थे। इनमें छोटापन या हल्कापन यही था कि ये गरीब थे सत्ताहीन थे। गोविन्दसिंह इन्हीं लोगों का मुख्य आश्रयदाता था।

गोविन्दसिंह के खेत औरों की अपेक्षा ग्राम से कुछ अधिक दूर थे। आजकल रात को वह वहीं सोता था और प्रायः प्रहर रात्रि रहते दूध दुहने आदि कामों के लिए घर आजाता था। उसी नियम से आज वह जब घर की ओर आरहा था, तब अकस्मात उसके पैर किसी बोझल गांठ से टकरा गए। गोविन्दसिंह रुका। झुक कर देखा, फिर हाथ लगाया जान पड़ा कोई मनुष्य है। कुछ और ध्यान से देखा तो जान पड़ा बालक है। गोविन्दसिंह का हृदय कांप उठा। उसे एक दिन की अपनी असहाए अवस्था याद हो आई।

गोविन्दसिंह के भी मां बाप बचपन में ही मर गए थे। उसके पिता की गांव के ठाकुर के यहां बड़ी पूछ थी। कारण उन्होंने उसे वहां की जागीर का अधिकारी प्रमाणित करने में बड़ी सहायता दी थी। इसीलिये गोविन्दसिंह के अनाथ रह जाने पर लोगों को उसे ठाकुर से सहायता मिलने की आशा थी। किन्तु सहायता के स्थान पर मिला विश्वासघात। ठाकुर ने पहले तो उसकी रक्षा के बहाने उसकी सम्पत्ति पर अधिकार कर लिया और फिर उससे दासों का काम लेना प्रारम्भ कर दिया। यही नहीं, कुछ दिन में उसका एक दासी से अनुचित सम्बन्ध कराकर उसे सदा के लिए दास बना देने की चेष्टा की जाने लगी। इस पर गोविन्दसिंह भाग गया। किन्तु फिर पकड़ा गया और इतना पीटा गया कि अचेत होगया और अचेत हो जाने पर जब उसके मर जाने की आशंका उपस्थित होगई तब उसे इसी तरह एक दूसरे ग्राम की सीमा में

फिकवा दिया। संयोग से उसके ऐक संबन्धी को ये संवाद मिल गये। उसने लाकर उसे पाला और अच्छा किया। फिर उसके बाद तो इसे एसी घटनायें प्रायः देखने को मिलती थीं। प्राय बेगार में काम करते करते गरीबों के छोटे छोटे लड़के बेदम होकर गिर पड़ते और वे वहीं पड़े छोड दिये जाते थे। कितने ही अपने एक मात्र माता या पिता के मर जाने से आश्रयहीन भटकते भटकते मर जाते थे। कितने ही माता पिता बेगार में कोई अघटित घटना घटने पर या आखेट में गोली चूकने से मारे जाते थे और उसके बच्चे भूखों मर कर मृत्यु के शिकार होते थे। इसीलिए इस बालक को देख कर गोविन्दसिंह की वे सब स्मृतियां जागृत हो उठीं। उसने इसे भी किसी ऐसी ही आपत्ति का शिकार समझा और कह उठा, " हे भगवान्? इन पापों के आगे इन शासकों की किस प्रकार रक्षा होगी? फिर उसने बालक की छाती से कान लगाया और जब उसमें रुक रुक कर आते हुए श्वास की आहट मालुम हुई तो उसे गोदी में उठा कर घर की ओर चल दिया।

गोविन्दसिंह की स्त्री का नाम था देवकी। वह इस समय चक्की चलाती हुई कुछ गारही थी। अकस्मात गोविन्दसिंह की आहट आई और उसने चक्की रोकी। गोविन्दसिंह ने बाहर से ही जल्दी से कहा, " जरा दीपक लाना।" देवकी भी मानों किसी आशंका से कांपती हुई जल्दी जल्दी उठी और दीपक लेकर पति के कमरे में पहुँची। देखा, गोविन्दसिंह के बिस्तर पर एक सुन्दर बालक पड़ा है और गोविन्दसिंह उसे ध्यान से देख रहा हैं। उसने उत्सुकता से पूछा " यह किसका बालक है?"

" मालूम नहीं, मालुम तो किसी भले घर का होता है।"

आपको यह कहां मिला?"

" वहीं, अपने खेतों से कुछ इस ओर पडा था। न जाने विचारा किसके अत्याचार का आखेट बना है।" उसके हाथ पर चोट का चिन्ह देख कर बोला, " ओह? इसका तो हाथ ही टूट गया दिखता है?"

देवकी भी कुछ आगे बढ़ी और दोनों पति पत्नी विशेष ध्यान से उसकी चोटों की जांच करने लगे। मालुम हुआ कि चोट कई जगह लगी है। अन्त में विशेष हाल जानने के लिये गोविन्दसिंह ने उसे होश में लाने की चेष्टा की। मुख पर जल के छींटे दिये। किन्तु बालक को होश न आया। लाचार उसने देवकी को उसकी चोटों पर हल्दी और गूगल लगा कर सेक करने की आज्ञा दी और स्वयं दूसरे ग्राम से वैद्य को लाने गया।

(६)

दिन प्रायः दोपहर चढ़ चुका था। बालक के सिरहाने की ओर वैद्य और सामने गोविन्दसिंह तथा नीमूचाणा के भगवानसिंह बैठे थे। देवकी भी एक ओर आधा घूंघट निकाले और अपनी पुत्री चम्पा को पकड़े खड़ी थी। बालक को अभी होश नहीं आया था। चिकित्सा जारी थी। चम्पा अपनी मां का हाथ पकड़े दूसरा हाथ बालक की ओर उठा कर बोली, "ऊं ऊं :!"

देवकी ने कहा, "हां ये अच्छा हो जाने पर तेरे साथ खेला करेगा?"

बालिका ने फिर कहा, "ऊं हा ह !"

गोविन्दसिंह हंसता हंसता बोला, "हां, यह तेरा दादा भाई है!"

सहसा बालक के ओठों में कुछ कम्पन हुआ। गोविन्दसिंह बोला, "शायद अब होश आयेगा!"

देवकी ने भी आकाश की ओर भक्तिभाव से दृष्टि उठाकर मानो ईश्वर को धन्यवाद दिया।

वैद्य ने तत्क्षण एक औषधि उसके ओठों और जिह्वा पर लगाई और दूसरी उसके तलुओं में मलने के लिये गोविन्दसिंह को दी।

थोड़ी देर में बालक के ओठों में फिर कम्पन हुआ। थोड़ी सी आंखें भी खुलीं। किन्तु पूरी खुलने के पहले ही फिर बन्द होगईं। वैद्य के मुख पर आशा की आभा प्रत्यक्ष हो उठी। इस बार उसने एक औषधि एक नलिका के सहारे उसके गले में उतारी। फिर दूसरी औषधि उसके तालु पर मलता हुआ बोला, " आखिर आप कुछ ख्याल कर सकते हैं, यह किसका बच्चा होगा ?"

गोविन्दसिंह बोले, " और किस का होगा ? किसी बड़े का तो होने से रहा ! किसी गरीब का ही होगा ?"

वैद्य बोला, " मुखाकृति से तो किसी भले घर का जान पड़ता है !"

गोविन्दसिंह बोला, " हां सम्भव है किसी हमारे जैसों ही का हो और किसी तरह अपने मालिक कहलाने वालों का कोप भाजन बन गया हो !"

" नहीं, ठाकुर साहब ? आप जैसों के बच्चों के साथ ऐसा व्यवहार नहीं हो सकता। अवश्य ही यह किसी दूसरी जाति का होगा।"

भगवानसिंह बोला, " यह तो न कहिये वैद्य जी ! संसार में एक स्वार्थ—सबंध ही सच्चा संबंध है और सब सबंध झूठे हैं। उदाहरण के लिए हम स्वयं मौजूद हैं। हमारे पूर्वजों ने अलवर राज्य के लिए अपने हृदय का रक्त बहाया था। उस समय जाति ही की दुहाई देकर हमें गूजरों से लड़ाया था। किन्तु परिणाम क्या हुआ ? जब स्वार्थ का प्रश्न आया, तब जिस तरह सिरोही और मेवाड़ में भीलों पर गोलियां चला दी गईं और उनके घर जला दिये गये, उसी तरह हम पर गोलियां चलादी गईं और हमारे घर जलादिये गये !"

गोविन्दसिंह बोला, " यह तो आज से क्या, हमेशा से होता आ रहा है। बौद्धों का राज्य छीनने के लिए चालाक लोगो ने ब्राह्मण

धर्म और वैष्णव धर्म की दुहाई देकर ब्राह्मण धर्मियों को कटा दिया। किन्तु जब उनका राज्य होगया तो वे ब्राह्मण और वैष्णव धर्मियों पर बौद्धों से भी अधिक अत्याचार करने लगे। इसी प्रकार हिन्दू मुसलमानों के युग में हिन्दुत्व और इसलाम की दुहाई देकर गरीबों की शक्ति से फायदा उठाया गया। फिर जिन राज्यो नें भीलों पर गोलियां चलाई हैं, उन पर भीलों के क्या कम उपकार हैं! क्या भीलों की सहायता बिना आज मेवाड़ राज्य का नाम रहता।"

वैद्य बोला, " आप बिल्कुल ठीक कहते हैं ठाकुर साहब! मेरे सिरोही में कुछ संबन्धी हैं। मैं अभी उधर गया था तो देखा कि वहां भूमि छीनने के लिये ब्राह्मणों के साथ सर्वथा विधर्मियों जैसा व्यवहार किया जा रहा है।

भगवानसिंह बोला, " और अजमेर में तो चौहान राज्य के समय इसीलिए ब्राह्मण छल—बल से भ्रष्ट तक कर दिये गये थे! सच तो यह है कि जहां सत्ता लोभ है वहां न सत्य रहता है न मनुष्यत्व।"

वैद्य, " किन्तु ऐसी बातों के विरुद्ध कोई बोलता भी तो नहीं!

भगवानसिंह— " कौन बोले! बोले तो बड़ों को उनका मुंह बंद करते क्या देर लगती है? और तो क्या बोलें, जो जाति की संस्थायें बनती हैं और नित्य चन्दा लेने को दरवाजे पर खड़ी रहती है, वे तक नहीं बोलतीं! हमारे ही मामले में देखिये, राष्ट्रीय दलवालों ने फिर भी थोड़ी बहुत भाग दौड़ की किन्तु राजपूतों ने कान तक नहीं हिलाए?"

वैद्य— " और फिर भी लोग इस पागलपन को नहीं छोड़ते। देखिये न आजकल हिन्दू मुस्लिम विरोध का कैसा दौरा दौरा हैं।

भगवानसिंह— " हालाँ कि मुसलमान भी इस नियम को जानते हैं। उन्हें मालूम है कि रुहिलों का नाश सिराजुद्दौला ने ही किया था और औरंगजेब ने बाप तक को कैद कर लिया था।"

गोविन्दसिंह बोला. "मेरा तो दृढ़ विश्वास है कि जो लोग जाति और धर्म के नाम पर भावी पीढ़ी के संगठन की नींव रख रहे है वे देश को और अपने सम्प्रदायों को भारी हानि पहुँचा रहे है। वास्तव में यदि कोई बात भेद और ऐक्य का आधार हो सकती है तो वह एक ही बात है, और वह है. "गरीबी और अमीरी"। जब तक गरीब एक होकर अमीरी के विष का प्रभाव कम न करेंगे तब तक यह फूट नहीं रुक सकती।"

वैद्य बोला, "किन्तु यह भेद-भाव भी सर्वथा मिट सकता है क्या!"

गोविन्दसिंह बोला, "मिटाने की आवश्यकता भी क्या है! आवश्यकता तो है उसके दुरुपयोग को मिटाने की और यह तभी संभव है, जब लोग धर्म और जाति के नाम पर दूसरे के हाथ की कठपुतली न बनें।"

इसी समय बालक ने आंखें खोलदीं और बोलने की चेष्टा करने लगा। वैद्य ने उसे एक दवा पिलाई, जिससे उसका कण्ठ साफ होगया। किन्तु अपने को इस अपरिचित स्थान में पाकर मानों उसे आश्चर्य होने लगा। यह देखकर गोविन्दसिंह ने उसे सान्त्वना देते हुऐ कहा, "घबराओ मत? यहां तुम्हें कोई कष्ट न होगा।" बालक की आंखों में मानों कृतज्ञताश्रु भर आए।

वैद्य ने पूछा, "तुम्हारे बाप का नाम क्या हैं भाई?"

लडका बोला— "हीरालाल।"

सुनते ही गोविन्दसिंह अपनी जगह से खड़ा होगया और बोला, "हीरालाल? अनन्तपुर का कामदार।"

बालक ने सिर हिलाकर स्वीकार किया।

देवकी ने गोविन्दसिंह की ओर देखकर कहा, "हीरालाल वही, जिसने उस दिन हमें नदी में से बचाया था !'

गोविन्दसिंह ने कहा, " हाँ वही !" फिर बोला, " तबतो हमें ईश्वर को धन्यवाद देना चाहिए कि उसने हमें हीरालाल की भी कुछ सेवा करने का अवसर दिया। किन्तु अब हीरालाल कहां है !'

वैद्य— " क्यों ? हीरालाल कहां गया !'

गोविन्दसिंह – " वह भी ऐक कृतघ्न जागीरदार की बलि चढ़ चुका है और मेरा अनुमान ठीक है तो इस बालक की यह दशा उसी ने की है ?'

* * *

क्रमशः रामनाथ ने अपनी सारी कथा गोविन्दसिंह और ग्रामवासियों को सुनाई । सुनकर सभी ने दाँतों नीचे ऊंगली दबाई। किन्तु रामनाथ को अब कोई कष्ट न था। वह घर ही की तरह गोविन्दसिंह के घर में रह रहा था।

(१०)

किन्तु ऊधमसिंह की यह कृति छिपी न रही। हम बता चुके हैं कि पण्डित और रामलाल राजधानी की ओर गए थे। उनके प्रयत्नों का फल यह हुआ कि ऊधमसिंह के आचरणों की जांच के लिए राज्य की ओर से एक जासूस नियुक्त कर दिया गया। जासूस भी नया था और इसलिये कोई महत्वपूर्ण रहस्योद्घाटन कर अपनी धाक जमाने को उत्सुक था। इसीलिए वह प्रायः जहां जाता रात-बिरात निरर्थक घूमा करता था। संयोगवश उपरोक्त घटना के दिन वह बसन्तपुर में ही था और इसलिये उसे सब बातों का पता लग गया था।

फल यह हुआ कि एक सप्ताह के भीतर ही मामला अचलगढ़ की अदालत में पेश होगया और काफी प्रमाण होने के कारण ऊधमसिंह

गिरफ्तार करके हवालात में रख दिये गये। ऊधमसिंह ने बचने को बहुत हाथ पैर पीटे। बहुत कुछ ऋण लेकर देवताओं के पैर पूजे, प्राय: सारे गांव गिरवी रख दिये, किन्तु व्यर्थ। सफलता नहीं हुई। कारण प्रथम तो मुख्तिर साहब अपना पहला मुकद्दमा झूठा प्रमाणित होने देने को तैयार न थे, दूसरे दरबार जागीर हड़पने के इस अवसर से पूरा लाभ उठाने पर तुले थे। वे ऐसे स्वर्ण अवसर को हाथ से न जाने देना चाहते थे। इसीलिये सब कुछ करके भी ऊधमसिंह के चारों ओर निराशा की अमावस्या छा गई।

* * *

एक आदमी आनन्दगढ़ का भी अचलगढ़ आया हुआ था। वह यह नाटक देखकर जब आनन्दगढ़ गया और रामनाथ की बात लोगों से सुनी तो गोविन्दसिंह के घर गया। किन्तु गोविन्दसिंह कहीं बाहर गया हुआ था, अत: वह वापिस लौट चला। अकस्मात् सामने से रामनाथ आगया, उसे भी इसके रामनाथ होने ही का सन्देह हुआ। पूछा,

"रामनाथ तेरा ही नाम है ?"

"हां, क्यों आपने कैसे जाना ?"

"मैं अचलगढ़ गया था। वहीं अदालत में सुना था।"

"अदालत में ? अदालत में मेरा नाम क्यों ?"

"ठाकुर ऊधमसिंह पर मुकदमा चला है। वहां तो तुझे मरा हुआ साबित किया जा चुका है और कदाचित उसे फांसी हो जायेगी।"

"फांसी ?"

हां, आखिर खून का मामला है।"

"लेकिन मैं तो जीवित हूँ ?"

"यह वहां कौन जानता है ?"

"कब फैसला होगा ?'

"अगले इतवार को !' ग्रामीण चला गया। किन्तु रामनाथ चिन्ता में पड़ गया। वह सोचने लगा, "ऐसी अवस्था में मेरा क्या कर्त्तव्य है ! जाकर उसे बचाने की चेष्टा करूं या मरने दूं !' इन प्रश्नों के उत्तर में उसके मन में अनेक परस्पर विरोधी कल्पनाएं खड़ी हो गईं। कोई कहने लगी "और बातों में कुछ भी हो इस झूठे आरोप के लिये तो नहीं मरने देना चाहिए !' कोई कहने लगी, "वाह ! इसमें झूठ क्या है ? उसने तो मार ही दिया था ! बचाया तो ईश्वर ने या गोविन्दसिंह के प्रयत्न ने। फिर उसे क्यों बचाया जाए। रामनाथ इन्हीं विडम्बनाओं में उलझ रहा था कि गोविन्दसिंह आगए और उसे बाहर विचार मग्न बैठे देख बोले, "क्यों रामनाथ ! यहाँ क्यों बैठा है ?

रामनाथ उठता हुआ बोला, "कुछ नहीं, यों ही बैठ गया था, हां आपने एक बात सुनी है ?'

"कौनसी बात ?'

ऊधमसिंह को फांसी होने वाली है।'

"फांसी'

"हां, फांसी !'

"किस मामले में !'

"मुझे मार डालने के मामले में। अभी एक सज्जन आये थे वे कहते थे कि मेरा मार डाला जाना अदालत में प्रमाणित हो चुका है !'

"और कदाचित् तू इसी बात पर विचार मग्न हो रहा था !'

"हां, मैं यही सोच रहा था कि मुझे उसे इस झूठी बात के लिये क्यों मरने देना चाहिए !'

"इसमें झूठ क्या है! उसने तो मार ही दिया था। आखिर मरा समझ कर ही तो यहां फिकवा दिया था।'

"फिर भी इस समय तो मैं जीवित हूँ।'

"इससे क्या? फिर उसने तेरे पिता को और तेरी दादी को नहीं मरवाया है क्या? ऐसे आदमी को बचाने से लाभ?'

"मेरा मन तो यही कहता है कि अपने मामले में तो मुझे जाकर सच सच कह देना चाहिए? फिर कुछ भी हो?

गोविन्दसिंह बालक की इस सत्य निष्ठा पर मुग्ध होगया। उसने कहा, "अच्छी बात है, तुम्हारा हृदय यह कहता हैं तो यही करो। मैं भी तुम्हारे साथ चलूंगा।'

(११)

आज ऊधमसिंह का फैसला होने वाला है। अदालत उसके इष्ट मित्रों और अन्य दर्शकों से खचाखच भरी है। अधिकतर लोग ऊधमसिंह के छूट जाने की ही कल्पना कर रहे हैं। कारण कि वह जागीरदार है और रुपया सब कुछ कर सकता हैं। उन्हें क्या पता कि जहां स्वयम् राज्य का स्वार्थ हो वहाँ रूपनारायण भी परास्त हो जाते हैं।

अन्त में जज साहब आए और गम्भीर मुख मुद्रा बनाए हुए कुर्सी पर डट गये। फिर पेशकार आया और मिसल सामने रक्खी। जज ने कुछ क्षण उसे उलटा पलटा। फिर पास की आलमारी से कानून की पुस्तकें लेकर उन्हें देखा भाला और तब निर्णय पर हस्ताक्षर कर दोनों पक्षों को सम्बोधन कर बोले,

मुकदमा सब पहलुओं से साबित हैं और इसलिये महकमें बाला ने इस अदालत की राय मंजूर करके ऊधमसिंह को फांसी की सजा दी जाने की तजवीज की है और चूंकि ऊधमसिंह लाऔलाद है लिहाजा उसकी

जागीर खालसा होने का हुक्म हुआ।' सुनकर ऊधमसिंह की आंखों से आंसुओं की धारा बह चली। लोगों में भी भिन्न २ प्रकार की बातें होने लगी। दर्शक कचहरी से बाहर जाने लगे।

अकस्मात एक लड़के ने शीघ्रता के साथ अदालत में प्रवेश कर जज से कहा, "मैं इस मुकदमें के सम्बंध में कुछ कहना चाहता हूँ।

जज ने रुखाई से कहा, "इस मुकदमें का फैसला हो चुका, अब कुछ नहीं सुना जा सकता।'

इसपर लड़के ने चिल्लाकर कहा, "किन्तु जिसकी हत्या के मामले में यह सजा दी गई है, वह 'रामनाथ' मैं जिन्दा हूं!'

सुनकर सब चकित रह गये। जज फिर कुर्सी पर बैठा! लोग भी लौट पड़े। रामनाथ का बयान हुआ। उसने कहा, "मुझे केवल यही कहना है कि मैं जीवित हूँ और इसलिए मेरे मार डालने के मामले में किसी को सजा नहीं होनी चाहिए!'

किन्तु मुखबिर अपना मुकदमा कैसे बिगड़ने देता। उसने अदालत से इजाजत लेकर जिरह करनी शुरु की और यह प्रमाणित करना चाहा कि रामनाथ बच भले ही गया हो, ऊधमसिंह ने अपनी तरफ से उसे मार डाला था। किन्तु रामनाथ ने उसके प्रश्नों का उत्तर देने से इंकार कर दिया। उसने केवल इतना ही कहा कि, "यदि मेरे और मेरे कुटुम्ब के साथ इन्होंने बुराई की हैं तो भी उसका फल इन्हें ईश्वर देगा।"

किन्तु ऊधमसिंह के विरुद्ध तो इस समय उसकी सारी प्रजा खड्ग हस्त थी। इसलिये जो रामनाथ ने नहीं कहा था, वह वैसे भी प्रमाणित होगया। यही नहीं उसके दूसरे अपराध भी लोगों ने प्रकट कर दिये। फिर भी ऊधमसिंह रामनाथ के बयान के कारण फांसी से तो बच ही

गया। उसे केवल १५ वर्ष की सख्त कैद की सजा हुई। हां, जागीर जब्त होगई, किन्तु न्याय के लिए नहीं, नरेश की इच्छापूर्ति के लिए।

कहना व्यर्थ है कि गोविन्दसिंह ने रामनाथ की माता का भी उद्धार किया और आज वह अपने पिता की तरह प्रतिष्ठित एवम् पवित्र जीवन बिता रहा है!

४—"वीरपूजा"

(१)

"भाभी ! दो रोटी जल्दी सेकदो तो मैं झट चला जाऊं। और तो कुछ नहीं, किन्तु बकरियां किसी के खेत में चली जायेंगी तो बैठे बिठाये झगड़ा हो जायेगा ! झोंपड़ी के दरवाजे में खड़े हुए देवराज गडरिये ने कहा।

इधर रुक्मा चूल्हे के पास बैठी आटा गूंद रही थी। लकड़ियें कुछ गीली थीं, इसलिए बार बार फूंकने पर भी आग बुझ जाती थी। धुंआं उसकी आंखों में चिरमिराहट कर रहा था। ऐसी अवस्था में स्वभावतः देवराज के जल्दी मचाने से वह झुंझलाई और बोली. "कर तो रही हूँ ? तुमने तो ऐसी आफत मचा रक्खी है जैसे सिंहगढ़ की लड़ाई में जारहे हो ?"

देवराज को भी यह व्यङ्ग बुरा लगा। किन्तु वह अपने मनोभावों को दबाता हुआ बोला, "लड़ाई में तो जिन्हें राज करना है वे जायेंगे भाभी ! हम तो बकरी चराकर और खेती करके पेट भरते हैं। हमारा लड़ाई मे क्या काम ?"

रुक्मा ने कुछ जवाब न दिया। जवाब क्या देती ? चूल्हा बुझ गया था, इसलिये उससे कुश्ती कर रही थी।

किन्तु देवराज कुछ और ही तरह का आदमी था ! मां के मरजाने के बाद से ही, भौजाइयों की कहानियां सुनते सुनते उसे कुछ ऐसा भ्रम होगया था कि, अब इस गृह में कोई उसे प्रेम करने वाला है ही नहीं !

यद्यपि वास्तव में यह बात न थी। उदाहरण के लिए उसके ज्येष्ठ भ्राता हेमराज को उस पर सबसे अधिक स्नेह था। हां, वह उसे प्रदर्शित न कर सकता था। कारण प्रथम तो वह इस कला में दक्ष न था, दूसरे कृषि—कार्य के आगे अवकाश न पाता था। साथ ही वह कुछ संकोचशील भी था। फिर भी व्यवहार में तथा खाने-पीने में उसका प्रेम प्रगट होता ही था। कोई वस्तु ऐसी न होती थी, जिसमें वह, उसकी अनुपस्थिति में भी छोटे भाई के लिये सबसे बड़ा भाग न निकालता। कोई काम न था, जिसकी वह देवराज से चर्चा न करता। भाभी को भी उससे द्वेष न था। किन्तु फिर भी वह भावज ही थी। माता के दिव्य प्रेम की समता उसका प्रेम कैसे कर सकता था? किन्तु देवराज की मनोदृष्टि पर तो भ्रम का चश्मा चढ़ा हुआ था। उसका ध्यान अनुकूल बातों की ओर इतना न जाता था, जितना प्रतिकूल की ओर इसीलिये साधारण बात में भी उसे अवज्ञा और व्यङ्ग के दर्शन हो जाते थे। तनिक सी प्रतिकूल बात भी उसे असह्य हो उठती थी। यह स्वाभाविक भी था। आखिर वह बुड्ढा खुर्राट तो था नहीं। अनुभवहीन युवक था।

यही कारण है कि आज के व्यंग ने उसके हृदय पर तीर की तरह वार किया। वह सोचने लगा, "यह व्यंग इसने क्यों किया है! क्या यह समझती है कि मैं किसान हूँ, मांसाहारी नहीं हूँ, हरदम शस्त्रास्त्र नहीं लादे फिरता हूं, इसीलिमे मरने से डरता हूं? युद्ध नहीं कर सकता? आखिर जो युद्ध करते हैं, वे भी तो मनुष्य ही हैं। मैं भी मनुष्य हूं। अन्तर है तो इतना ही कि सैनिक जातीय कहलाने वाले निरन्तर युद्धकला सीखते रहते हैं और अपने पूर्वजों की सैनिकता आदि के कथानक सुनते रहते हैं। किन्तु इससे क्या? युद्ध-कौशल भले ही न दिखा सके, प्राण तो कोई भी वीरता पूर्वक देसकता है!" इस प्रकार वह न जाने क्या क्या सोच गया?"

(२)

देवराज विचार मग्न हो ही रहा था कि उसका भतीजा और साथी

शोभा आगया और देवराज को देख कर बोला, "क्यों काकाजी! रोटी खाली ?" देवराज का ध्यान भंग हुआ। उसने अन्यमनस्क-भाव से कहा, "नहीं भाई! अभी तो बन रही है?"

"तो जल्दी करो न, अब तो बन गई होगी।"

किन्तु देवराज की इच्छा फिर भाभी से कुछ कहने की न थी। अतः उसने अपने साथी से ही इस बात की जांच करने को कहा। शोभा भी कम क्यों उतरने लगा। उसने वहीं से आवाज दी, "काकी रोटी होगई कि नहीं? देवराज काका को देर हो रही है?"

किन्तु रुक्मा के मुख में तो आज मानों शनिदेव ही बैठे थे। उसे पता ही न था कि उसके शब्द बाहर क्या विपत्ति ढारहे हैं। अतः वह फिर उसी व्यंग के साथ बोली, "हां देर हो रही है? शस्त्र-पाती सब सज गए क्या?"

लड़का सरल स्वभाव से बोला, "क्यों काकी? शस्त्र—पाती क्या करने हैं? अपने को क्या किसी की हत्या करनी है!"

रुक्मा बोली "हत्या नहीं रे"। आजकल फिरंगियों की फौज ने पेशवा पर चढ़ाई कर रक्खी है। इसलिए मैं समझी थी कि तेरे काका धर्म और देश की रक्षा के लिये उस लड़ाई में जा रहे हैं?

शोभा इन बातों का कुछ भी अर्थ न समझ सका। वह देवराज के मुंह की ओर देखने लगा!

अब देवराज से सहन न हो सका। वह चुपचाप उठकर घर के भीतर गया। न जाने कितने वर्षों से एक पुरानी तलवार खूंटी पर लटक रही थी। कभी किसी ने उसे झाड़ा पोंछा तक न था। भीतर उसपर बेहद काठ जमा हुआ था और बाहर से म्यान फटकर टुकड़े टुकड़े हो रहा था। इसी तलवार को बगल में दबा देवराज चल निकला।

देवर को तलवार लेकर निकलते देख भौजाई को भी शंका हुई। पूछा, "कहां जाते हो?" किन्तु देवर ने कोई उत्तर न दिया। भौजाई

भी मान करके चुप होगई। किन्तु वह अधिक देर चुप न रह सकी। किसी अचिन्त्य आशंका से उसका हृदय विचलित हो उठा। उसकी धुकधुकी की गति बढ़ गई। रोटी बनाना छोड़कर वह बाहर निकली। किन्तु देवराज तो गांव से बाहर निकल सघन बनों की तरह पथावरोध कर खड़े हुए खेतों में गायब हो चुका था। शोभा भी हत बुद्धि सा होकर खड़ा था। उसकी समझ ही में न आरहा था कि यह क्या गोलमाल है ?

आखिर रुक्मा ने अश्रुपूर्ण नेत्रों से उसकी ओर देखकर कहा, "शोभा !देखता क्या है ? दौड़ ? तेरे बड़े काका को बुलाला। कहना झट चलो ! छोटे काका रुठे जा रहे हैं।" बिचारा शोभा भागा। रुक्मा भी रोटी-पानी भूल गई। वहीं देहली में बैठकर अपनी जिव्हा को धिक्कारने और पश्चाताप के आंसू बहाने लगी। किन्तु "अब पछताये कहा होत जब चिड़ियां चुग गईं खेत !'

थोड़ी देर में हेमराज आया। सब बातें सुनीं। उसके भी देवता कूच कर गए। इस संसार में और सब कुछ मिल सकता है, किंतु सहोदर कहां मिलते हैं ? उसने खीझ कर स्त्री को दो चार भली-बुरी सुनाईं। सोचने लगा, "ओह पिता—माता स्वर्ग से मेरी इस नालायकी को देख कर क्या कहेंगे ? ऐसे निर्दोष भाई को खो देने पर भगवान मुझे कैसे क्षमा करेंगे ?"

फिर लकड़ी लेकर भाई को ढूंढने निकला। शोभा को बकरियों की देख भाल का काम सम्हलाया। निकलते ही ग्राम के दो चार व्यक्ति और मिले। पूछा, "कहां जाते हो ?" हेमराज ने सब कथा सुनाई। वे भी दुखित हुए। ग्रामीणों में शहरियों की अपेक्षा विशेष सहानुभूति होती है। अतः वे भी साथ हो लिये, कहने लगे, "लड़का नादान है। क्रोध में न जाने क्या कर डाले।' किन्तु उनकी खोज में खत बड़े बाधक हुए। पहले ही यह ठीक पता न था कि वह किस ओर गया है, फिर इस बाधा ने और भी बखेड़ा डाल दिया। फल भी वही

हुआ। सब व्यक्ति सायंकाल तक ढूंढ ढूंढ कर थक गये। किसी के मुंह में दाना गया न पानी। घर भी यही अवस्था रही और बाहर भी यही। किन्तु फिर भी देवराज का पता न लगा।

(३)

सिंहगढ़ दुर्ग, एक दीवार की तरह खड़े बेलाग पर्वत खण्ड पर बना हुआ है। यह हिंदुत्व के रक्षक महाराष्ट्र केसरी शिवाजी का अमर गौरव स्तम्भ है। आज भी हिंदुओं के हृदय में उसे देखकर देश-प्रेम, स्वातन्त्र्य प्रेम और हिन्दुत्व के अभिमान की त्रिवेणी बह उठती है। और सब दुर्ग एवम् ऐतिहासिक स्थान किसी वन्श विशेष या जाति विशेष के मन में स्वाभिमान का सन्चार करते हैं, किन्तु सिंहगढ़ हिन्दू मात्र के मन में स्वाभिमान सुरसरी बहाता है। वह प्रत्येक हिन्दू को शिक्षा देता है कि, युद्ध अपने वन्श या जाति की प्रधानता और श्रेष्ठता स्थापित करने के लिये नहीं, धर्म और देश की स्वातन्त्र्य रक्षा के लिए करना चाहिए!

आजकल पेशवा और अंग्रेजी कम्पनी-सरकार के बीच खट-पट चल रही है। सिंहगढ़ पर भी सेना आने की अफवाहें गरम हैं। इसीलिये पेशवा ने बलवन्तराव गुर्जर को सेनापति बनाकर सिंहगढ़ भेज दिया हैं। फलतः आज सिंहगढ़ में जिधर देखो उधर ही असाधारण चहल पहल दृष्टि-गोचर हो रही है। कहीं शस्त्रास्त्र साफ किये जा रहे हैं, कहीं टूटी-फूटी रक्षा-दीवारों की मरम्मत हो रही है। कहीं बारूद बन रही है, कहीं गोली-गोले ढल रहे हैं। कहीं सैनिकों की भर्ती हो रही हैं, कहीं युद्ध-कला की शिक्षा दी जारही है। कहीं मार के स्थानों पर तोपें चढ़वाई जा रही हैं। बलवन्तराव स्वयं जाकर प्रत्येक स्थान के कार्य-कर्त्ताओं का उत्साह बढ़ा रहा है। महाराष्ट्र के प्रत्येक भाग से प्रत्येक जाति और समुदाय के नवयुवक मातृभूमि की रक्षार्थ स्वेच्छा से युद्ध में भाग लेने को चले आरहे हैं।

दो पहर हो चुका था। भाद्रपदीय धूप की तीव्रता से घबड़ा कर पक्षी वृक्ष-पल्लवों में छिपे बैठे थे और हरिण ठण्डे स्थल की खोज कर रहे थे। ऐसे ही समय एक युवक, शरीर से हृष्ट-पुष्ट किन्तु फटे चिथड़े पहने और एक ऐसी ही रद्दी तलवार लिए दुर्गद्वार के सामने आकर खड़ा होगया। उसकी फटी अंगरखी पसीने से तर हो रही थी। मस्तक भी प्रस्वेद विन्दु-मुक्ताओं से लदा था। युवक ने वान्छित तीर्थ स्थल पर पहुँचे हुए यात्री की तरह दुर्गद्वार पर पहुँच, दीवार की छाया में खड़े होकर एक सन्तोषमय निश्वास छोड़ा और ऊंगली से मस्तक का पसीना पोंछने लगा। इसी समय एक दरबान ने बाहर निकलकर पूछा, "तुम कौन हो ?"

"एक ग्रामीण !"

"यहां कैसे !"

"सेनापति से मिलना है !"

इतने में बाहर किसी के बात करने की आहट पाकर एक और सिपाही निकल आया। पहला सिपाही कुछ व्यंग पूर्ण हंसी हंस कर बोला, "खास सेनापति से ही !'

युवक ने उसी सरलता से उत्तर दिया:—

"हां स्वयं सेनापति से ही !"

दूसरा सिपाही हंसकर बोला, "हां, तुम्हारी सूरत तो सेनापति से मिलने जैसी ही है !"

अकस्मात् बलवन्तराय स्वयं द्वार पर आ पहुँचा। कदाचित उसने इस सिपाही की बात का कुछ अंश सुन भी लिया था। इसीलिए उसने उसकी ओर घूमकर पूछा, "क्या बात है ?"

सिपाही अचानक सेनापति को सिर पर देख एक बार तो अकचका उठे। किन्तु दूसरे ही क्षण सम्हल गए और लम्बी सलाम करके बोले, "कुछ नहीं हुजूर ! कोई देहाती है ?"

"क्या चाहता है ?" बलवन्तराय ने फिर पूछा ?

एक सिपाही बोला, "यह तो अभी नहीं मालूम हुआ है !"

दूसरा बोला, "हुजूर ? गंवार है। कुछ ऐसी ही बातें करता है !'

"क्या बातें करता है, कहो ? " सेनापति ने कहा।"

दूसरा सिपाही कुछ मुस्कराता हुआ बोला, "हुजूर से मिलना चाहता है ?"

सेनापति ने हा, "क्या हर्ज है ? इधर बुलालो ?'

अब क्या था युवक बुलाया गया। उसने साधारण रीत्या हाथ उठाकर प्रणाम किया। वह विचारा राज-दरबारी बातें जाने भी क्या ? उसके लिए तो अपने ग्रामों के केन्द्र से बाहर निकलने का भी कदाचित् यह पहला ही अवसर था। फिर भी सिपाहियों और दूसरे अफसरों को यह कुछ बुरा लगा। सम्भव है, सेनापति को भी कुछ खटका हो। किन्तु युवक के मुख मंडल और नेत्रों में कुछ ऐसा भाव भरा हुआ था कि उससे किसी ने कुछ भी न कहा।

बलवन्तराव ने प्रेम-मय स्वर से पूछा, "कहो भाई ? क्या कहना है ? मेरा ही नाम बलवन्तराव है !"

"आप ही सेनापति हैं ?'

"हां !'

"तो मुझे आपसे कुछ एकान्त में निवेदन करना है ?'

क्या हानि है ! मेरे साथ आओ ?" कहकर सेनापति चलने लगा, किन्तु एक दूसरा सरदार बोला, "नहीं हुजूर ? यह नहीं होसकता। मुमकिन है यह दुश्मन का आदमी हो।'

बलवन्तराव ने घूमकर फिर एक बार युवक को सिर से पैर तक देखा और कहा:— "कोई चिन्ता नहीं ? उसे मेरे साथ आने दो।" फिर युवक को साथ आने का संकेत कर वे चलपड़े।

* * *

कहना व्यर्थ है कि यह युवक और कोई नहीं, देवराज था। सेनापति ने अपने महल में पहुँच कर सबको हटा, देवराज को निकट बिठाया और कहा, "अब जो कहना हो कहो।"

युवक ने अपनी सारी कथा कह डाली और फिर बोला, "अब मुझे वह क्रोध नहीं है, मेरी इस समय एकान्त आकांक्षा यही है कि देश रक्षा के इस यज्ञ में हाथ बटाऊं! अतः जिस प्रकार मेरी यह आकांक्षा पूर्ण हो वही व्यवस्था कर दीजिये ?"

सेनापति बोला, "मेरे विचार में तो तुम्हें लौट जाना चाहिए। ..... ऐसी बातें घरों में प्राय हो जाती है।' ... युवक बीच में बोल उठा, "वापिस जाने का तो आप नाम ही न लें। मैं इस युद्ध में भाग लेने का दृढ़ संकल्प कर चुका हूँ। रही मेरी भौजाई के कथन की बात, उसके लिए मैं पहले ही निवेदन कर चुका हूँ कि अब उसका मेरे हृदय पर कोई प्रभाव नहीं है। अब तो मैं इस युद्ध में भाग लेना अपना धर्म समझ कर आप से यह अनुरोध कर रहा हूँ।'

इस पर बलवन्तराव ने फिर एक बार युवक की ओर हृदयभेदिनी तीक्ष्ण-दृष्टि से देखा। फिर बोले, "अच्छी बात है देवराज ? तुम्हारी आकांक्षा पूर्ण होगी। मैं तुम्हें अपनी खास सेना में स्थान दूंगा।'

देवराज प्रसन्न होता हुआ बोला, "किन्तु युद्धकला से मैं अब तक सर्वथा अपरिचित हूं। व्यवसाय की दृष्टि से भी मैं किसान हूं, क्षत्रिय नहीं।'

सेनापति ने कहा, "कुछ चिन्ता नहीं देवराज ? तुम चाहे युद्धकला न जानते हो, तुम्हारा हृदय सैनिकता का मतवाला है। तुम चाहे क्षत्रिय न हो, तुम्हारे हृदय में क्षत्रिय कहलाने वालों से अधिक दृढ़-संकल्प-शक्ति है। क्षत्रियत्व का आधार जाति नहीं, वीरत्व और बलिदान की शक्ति है। मैं तुम्हारे लिए युद्धकला सीखने की व्यवस्था

किये देता हूं। जो कुछ सीखा जा सके, सीखने की चेष्टा करो। ईश्वर तुम्हारी इच्छा पूर्ण करेगा।

(४)

सिंहगढ़ पर युद्ध होते आज कई मास हो चुके हैं, किन्तु कंपनी को विजय नहीं मिलती। अब तक अनेकबार अंग्रेजीसेनाएं लड़ते लड़ते दुर्ग द्वार तक पहुँच गई हैं किन्तु हर बार उन्हें दुर्ग के ऊपर से होने वाली मार के आगे भारी क्षति के साथ वापस ही लौटना पड़ा है। इसीलिए अंग्रेजों ने अपने मित्रों से नई कुमक मंगाई है। कुमक आनी प्रारम्भ भी होगई है। बंगाल के नवाब और राजपूताना के राजपूत राज्य कितनी ही पठान और राजपूत सेनाएं भेज चुके हैं। दूसरों की सेनायें भी मार्ग में है। हां, कितने ही देश प्रेम से प्रेरित होकर टालाटूली भी कर रहे हैं। किन्तु इनकी संख्या नगण्य है। अंग्रेज सेनापतियों को विश्वास है कि वे लोग सहायता न भेजें तो भी एक सप्ताह में वे निर्णायक युद्ध के लिये तैयार हो जायेंगे और कदाचित् इसीलिऐ अंग्रेज सेनापति मि० शील्ड आजकल जमकर युद्ध नहीं करते। केवल शत्रु की युद्ध सामग्री व्यय कराने को छोटी-मोटी छेड़छाड़ करते रहते हैं। किन्तु महाराष्ट्रीय उनके भी गुरु हैं। वे इन चालों को खूब समझते हैं और वैसा ही उत्तर देते हैं। फिर भी दुर्ग की भीतरी अवस्था अच्छी नहीं है। कारण रसद निरन्तर कम होती जा रही है। आजकल सेना को एक समय भी भोजन कठिनता से मिलता है। इसमें सन्देह नहीं कि सैनिकों में अटूट साहस और देश-प्रेम है। पानी की भी कमी नहीं है। दुर्ग भी दृढ़ है। किन्तु भोजन के बिना कब तक काम चल सकता है ?

बाहर से सहायता आने की बाट देखते भी कितने ही दिन होगए, किन्तु सहायता नहीं आई ! उल्टी पेशवा के भाग जाने की अफवाहें फैली हुई हैं। फलतः सैनिक और उस दलपति नित्य बलवन्तराव को घेरते हैं।

बलवन्तराव भी बड़े असमंजस में है। वह सैनिकों और दलपतियों को धैर्य बंधाता हैं. किन्तु मन में जानता है कि यह मौखिक धैर्य अधिक दिन काम नहीं देसकता। किन्तु उससे आशा भी नहीं छूटती। वह सोचता है, कौन जाने, कल ही सहायता आ पहुँचे। वैसी अवस्था में हमारा आज ही अन्तिम युद्ध कर डालना मूर्खता पूर्ण गिना जायेगा। अवश्य ही पेशवा के भागने की अफवाहें निरुत्साह जनक हैं, किन्तु वे सच्ची ही हैं, इस बात का क्या प्रमाण ? फिर ये सच हों तो भी क्या उसे इसीलिये आत्मसमर्पण कर देना चाहिए ! शरीर में प्राण रहते मातृ-भूमि पर विदेशियों को अधिकार कर लेने देना चाहिए। शिवाजी के किये हुए सारे कार्य पर पानी फेर देना चाहिए ?" इन सब प्रश्नों का उस के हृदय में से एक ही उत्तर आता था -- "नहीं ! कदापि नहीं ! यह राज्य-विस्तार का युद्ध नहीं है। श्रेष्ठता स्थापन का संग्राम नहीं हैं ! यह धर्म रक्षा का युद्ध है। स्वातन्त्र्य रक्षा का संग्राम है। यदि धर्म और स्वातन्त्र्य प्राणों से अलग किये जा सकते हैं, तो विजय-प्राप्ति के बिना यह संग्राम भी रुक सकता है, अन्यथा नहीं।"

* * *

अन्त में एक दिन सारे दलपति बलवन्तराव के दरवाजे धरना देकर बैठ गए। बलवन्तराव ने भी अपने भाव उनके सामने ज्यों के त्यों रख दिये और आत्म समर्पण करने से स्पष्ट इंकार कर दिया।

दलपतियों और सैनिकों ने कहा, " हम आपके भावों का समर्थन करते हैं। हम भी परतन्त्रता से मृत्यु को श्रेयस्कार समझते हैं। किन्तु इस प्रकार भूखों मरने से क्या लाभ होगा ? इससे तो संमुख संग्राम कर प्राण देना ही अच्छी बात है।'

इसका बलवन्तराव के पास भी कोई उत्तर न था। कारण बाहरी सहायता की बाट काफी देखी जा चुकी थी। और अब तो भोजन नित्य ऐक समय भी नहीं तीसरे दिन मिलता था। अन्त में यही निश्चय हुआ

कि इस बार जब अंग्रेजी सेना दुर्ग द्वार से कुछ दूरी पर रह जाए, तब ही फाटक खोल कर आक्रमण कर दिया जाये। इससे स्वयं तो मरेंगे ही, पहाड़ी ढाल और तंग मार्ग में होने के कारण शत्रु सेना भी भारी क्षति उठायेगी।

* * *

अन्त में वह दिन आ पहुँचा। अंग्रेजी सेना पूरी तैयारी के साथ पहाड़ पर चढ़ने लगी। भीतर भी तैयारियां होने लगी! हिन्दू वीरों ने केसरिया बागे पहने। बन्दीगण वीर रस पूर्ण कविताऐं गा-गा उनमें साहस जगाने लगे। महिलाओं में भी जो संग्राम करना चाहती थीं वे रण सज्ज हुईं और शेष बारुद बिछा, जौहर के लिए तैयारी करने लगीं।

देवराज ने अब तक युद्ध में भाग न लिया था। लेता भी कैसे? सेनापति उसे आज्ञा ही न देता था! वह उसके वीरत्व, सारल्य और सत्य निष्ठ जीवन पर इतना मुग्ध था कि उसे बलि चढ़ाने की कल्पना करते भी उसका हृदय कांप उठता था। देवराज भी इतने विश्वास और प्रेम की अवज्ञा न कर सकता था। किन्तु फिर भी उसकी युद्ध में भाग लेने की लगन तो ज्यों की त्यों थी। ज्यों की त्यों ही नहीं, इस समय वह पहले से भी कुछ अधिक बढ़ी चढ़ी थी। कारण इधर कई मास सेनापति के पास रहने से उसको देश और स्वातन्त्र्य प्रेम की भावना दृढ़ हो चुकी थी। अतः आज वह अपने को न रोक सका। वह सजल नयन बलवन्त-राव के सम्मुख जाकर बोला, "आज तो आपको मुझे भी आज्ञा देनी ही पड़ेगी? यह नहीं हो सकता कि सब देश की वेदी पर बलि हो जांय और मैं अपने प्राणों को लिए बैठा रहूँ।'

बलवन्तराव ने भी उठकर उसे हृदय से लगाया और कहा, "ठीक है देवराज! आज तुम्हें आज्ञा है। चलो किन्तु रहना मेरे साथ। हम दोनों एक ही जगह गिरेंगे मैं तुम्हारे जैसे वीर हृदय का साथ सरलता से नहीं छोड़ना चाहता!"

सुनकर मानों देवराज की छाती अभिमान और कृतज्ञता के भावों से भर उठी। उसने कुछ कहना चाहा, किन्तु बोल न सका। केवल श्रद्धा के साथ सिर झुकाकर चला गया।

(५)

क्रमशः अंग्रेजी सेना दुर्गद्वार के निकट आ पहुँची। चतुर सेनानियों ने आगे राजपूत और मुसलमान सेनाओं को ही रक्खा था। किन्तु उन्हें यह देखकर आश्चर्य हो रहा था कि आज दुर्ग पर से उनकी ओर कोई शस्त्रास्त्र नहीं चलाये जा रहे हैं। फिर भी वे निश्चिन्त न थे। वे मरहठों के रण-कौशल को जानते थे और इसलिए उनकी दृष्टि बराबर गगन चुम्बी दुर्ग-प्राचीरों पर लगी हुई थी? वे प्रतिक्षण किसी नई चाल की आशा कर रहे थे।

सहसा झन्नाटे के साथ दुर्गद्वार खुलगया और उसमें से निकलकर सिन्धु ज्वार की तरह, केसरिया बाने पहने हुए हिन्दू सेना विपक्षियों पर टूट पड़ी। यह देख अंग्रेजी सेना कुछ क्षण तो आश्चर्य में ही डूबी रह गई। किन्तु फिर शीघ्र ही सजग हो लड़ने लगी। अंग्रेज सेनापति भी सेना को विशेष कौशल से लड़ाने लगे। क्यों कि दुर्गद्वार खुला था। साथ ही केसरिया बागों से यह निश्चय होगया था कि हिन्दू सेना शाका करने के विचार से आई है। ऐसी अवस्था में उनकी विजय निश्चित थी। केवल इस सेना को काट गिराना था।

किन्तु साथ ही महाराष्ट्रियों का युद्ध कौशल भी असाधारण था। विशेषतः बलवन्तराव तो गजब ही ढा रहा था। वह अपने घोड़े पर बैठा दोनों हाथों से खड़ग चलाता हुआ, जिस ओर टूट पड़ता था, उस ओर का ही शत्रु व्यूह पलक मारते में भंग हो जाता था। उसके खड़ग सुदर्शनचक्र बने हुए थे। उसके साथ ही छाया की तरह, कवच पहने और दोनों हाथों में खड़ग लिए अंग रक्षक का कार्य करता हुआ देवराज घूम रहा था। यह दशा देखकर शत्रु-पक्ष को कुछ ही क्षण में अनुभव

हो गया कि विजय प्राप्ति उतनी सरल नहीं हैं, जितनी उन्होंने सोची थी। साथ ही उन्होंने यह भी समझ लिया कि बलवन्तराव के जीवित रहते महाराष्ट्रीय सेना का साहस नहीं टूट सकता। कारण उसका अद्भुत रण-कौशल उसके सैनिकों में विद्युत भरने का काम कर रहा हैं। बस फिर क्या था, उन्होंने सारी सेना को पहले सेनापति से ही निपट लेने की आज्ञा दी। सेना भी बलवन्तराव को ही लक्ष्य कर गोलियाँ चलाने लगी।

सहसा एक गोली बलवन्तराव के घोड़े की छाती में लगी और दूसरी सिर में। फलतः घोड़ा लोट-पोट होगया। बलवन्तराव भी गिर पड़ा। किन्तु युद्धरत देवराज ने समझ लिया कि बलवन्तराव मारा गया यह समझना था कि उसे क्रोध चढ़ा। वह वायु वेग से शत्रु-सेना में घुस पड़ा और क्षण भर में ही अपने प्रचण्ड शौर्य से खलबली मचादी। वज्र कवच के कारण साधारण शस्त्र वैसे ही उस पर अधिक असर न करते थे। उसके वेग ने और भी गजब ढाया। उन्मत्त गयन्द की तरह दौडते हुए देवराज को रोकना शत्रु-सेना केलिए कठिन होपड़ा और उसने कुछ हीं क्षणों में असंख्य सेना को पीछे हटाकर ढालू जगह पर ढकेल दिया।

इधर बलवन्तराव को कुछ चोट आगई थी। उसकी मरहम पट्टी कराकर वह दूसरे घोड़े पर सवार हुआ और देवराज को आवाज दी। किन्तु देवराज वहाँ कहां था! पूछने पर लोगों ने कहा, वह युद्ध करता हुआ आगे बढ़ गया है। बलवन्तराव ने शत्रु सैन्य में दृष्टि दौड़ाई। देखा देवराज आध मील से अधिक दूरी पर शत्रु सेना के बीच में खड्ग चला रहा है। देखकर उसके मुंह से निकला, "हैं? देवराज के और मेरे बीच में इतना अन्तर पड़ गया।" फिर उसने चिल्लाकर कहा, "अरे अकेला ही कहां बढ़ा जाता है? ठहर! मैं भी आता हूँ!" कहकर वह भी वायु वेग से शत्रु सेना में घुस पड़ा। इधर दूसरी सेना भी सेनापति के साथ ही उत्साह से आगे बढ़ने लगी। शत्रु सेना सेनापति को घेर लेने के लिए और महाराष्ट्रीय सेना, सेनापति को

बचाने के लिए तुमुल-युद्ध करने लगी। युद्ध का रूप भीषण हो उठा। कुछ समय के लिये लोग मानो अपने शरीर की भी सुध खो बैठे।

इसी समय बलवन्तराव की पत्नी दोनों हाथों में तलवार लिये एक चट्टान पर आखड़ी हुई और राजपूतों को सम्बोधन करके बोली, "तुम्हारे क्षत्रियत्व को धिक्कार है! क्या तुम्हें लज्जा नहीं आती कि तुम विदेशियों का पक्ष लेकर देश बांधवों से लड़ने आए हो? हिन्दू होकर हिन्दूओं को परतन्त्र बनाने में सहायता दे रहे हो। सोचो! तुम्हारे पूर्वज तुम्हारी इन कृतियों को देख २ कर तुम्हारे लिये क्या सोचते होंगे?" वह भी तलवारें चलाती हुई शत्रु सैन्य में घुस पड़ी।

राजपूतों पर मानों सैंकड़ों घड़े पानी पड गया। उनको आंखें नीची होगईं। ऐसा होना स्वाभाविक भी था। हिन्दुओं का हिन्दुओं को परतन्त्र करने में सहायता देना क्या कम लज्जा की बात थी! उन्होंने चुपचाप उस देवी के लिए मार्ग छोड़ दिया।

इसी समय एक और घटना घटित हुई। देवराज के पराक्रम के आगे अंग्रेज अफसर हैरान हो उठे। वह अब हिन्दू सैन्य को पार करके अंग्रेजी सैन्य में आघुसा था और उसकी तलवार गोरों के गलों की हार बन रही थी।

वहां से थोड़ी दूर पहाड़ की ऐक कगार थी, जिसके ऊपर से एक अंग्रेजी तोप गोले उगल रही थी। सेनापति ने इसी तोप के गोलंदाज (तोपची) को इस नई आपत्ति पर निशाना लगाने की आज्ञा दी। गोला चलाया गया। निशाना भी अचूक बैठा। देवराज का सिर उड़ गया। किन्तु इससे क्या! उसका धड़ तो और भी वेग से दौड़ने लगा। हाथ भी मानो अधिक वेग से चलने लगे। गोरों की कमबख्ती आगई वे विचारे तो छिपकर गोलियां चलाने में सिद्धहस्त थे। वे इस जंगली लड़ाई से घबड़ा उठे। लाचार सेनापति ने राजपूतों को उनकी जगह लेने का हुक्म दिया। किन्तु उनमें तो एक हिन्दू रुण्ड को लड़ते देख

पहले ही श्रद्धा स्रोत उमड़ पड़ा था। अतः उनमें से कुछ इच्छा पूर्वक और कुछ अनिच्छापूर्वक टाल बताने लगे।

उधर मुसलमानों पर भी इसका प्रभाव पड़ा। आखिर वे भी हिन्दुस्तानी थे। उन्हें देश का ध्यान आए बिना कैसे रहता? किन्तु अंग्रेजी फौज ने समझा कि हिन्दू मुसलमान हमको धोखा देना चाहते हैं। तभी तो वे दुश्मनों को सीधे अंग्रेजी फौज में आने दे रहे हैं। अतः वह भी मैदान छोड़ बैठी अंग्रेज जीती जिताई लड़ाई हार गये।

(६)

युद्ध समाप्त होगया। बलवन्तराव ने बहुत पता लगाया, किन्तु देवराज का कहीं पता न चला। मात्र उसका शिर हाथ लगा। लाचार वह लौटने की तैयारी कर रहा था कि इसी समय ससैन्य पेशवा आ पहुँचा। उसे यह देख बड़ा आश्चर्य हुआ कि इतनी तैयारी के बाद भी अंग्रेज उसकी मुट्ठी भर सेना से हार गये। किन्तु वहां पूछताछ का अवसर न था। अतः उस समय तो विजय-दुन्दुभी बजाती हुई दोनों सेनाऐं दुर्ग की ओर चलीं।

उधर जौहर करने को तैयार बैठी हुई स्त्रियां भी अपना विचार बदल दुर्ग-द्वार पर आ खडी हुईं और मन भर कर विजयी सेनाओं का स्वागत किया। पेशवा ने भी खूब उदारता दिखाई और सबको यथायोग्य पुरस्कार, सम्मान, पद आदि दिये। किसी को जागीर मिली, किसी को विशेष अधिकार किसी को ताजीम किसी को पेन्शन।

सब के पीछे बलवन्तराव की बारी आई। पेशवा ने कहा, "आप के ऋण से तो महाराष्ट्र कभी उऋण हो ही नहीं सकता। यह आपही का काम था जो इतनी थोडी सामग्री और सेना से इस दुर्ग की इतने दिन रक्षा की और अन्त में इतनी प्रचण्ड सेना को मार भगाया। अतः कहिये। मैं आपका कौनसा प्रिय कार्य कर सकता हूँ? आज की विजय के उपलक्ष में आप मेरे अधिकार के भीतर जो मांगेंगे वही मिलेगा।

बलवन्तराव ने कहा, आपकी कृपा के लिये धन्यवाद। किन्तु आज की विजय का श्रेय जिस वीर को है, वह तो पुरस्कार लेने के लिए रुका ही नहीं। वह मेरे साथ रहने का वचन देकर भी अकेला ही चला गया हैं। ऐसी अवस्था में आप से पुरस्कार कौन ले!"

पेशवा यह सुनकर कुछ चकित हुआ बोला, "और वह कौनसा वीर हैं?"

बलवन्तराव ने देवराज का सिर मंगाकर सामने रक्खा और उसके वीरत्व की सारी कथा सुनाई। पेशवा ने कहा, "वास्तव में यह वीर भी धन्य है! किन्तु इससे तुम्हारे पुरस्कार के अधिकार में कोई बाधा नहीं पडती। और चूंकि अब वह चला गया है, अतः मैं उसकी और आपकी दोनों की ओर से पुरस्कार मांगने का अधिकार आप को ही देता हूँ।"

बलवन्तराव ने कहा, "अच्छी बात है। किन्तु क्या मांगूं? मुझे जो कुछ चाहिए वह सब ईश्वर ने दे रक्खा है। फिर मैंने जो कुछ किया है वह मेरा कर्त्तव्य था और कर्त्तव्य का पुरस्कार कैसा? किन्तु फिर भी आपका आग्रह है तो, मैं यही मांगता हूँ कि ऐक विशाल मन्दिर बनवा कर उसमें देवता की जगह इस की मूर्ति स्थापित की जाय और उस मन्दिर में पूजा करने का अधिकार मेरा रहे।"

पेशवा, अपने सेनापति के हृदय में सच्चे वीरत्व का इतना आदर और सत्य का इतना मान देखकर गद्गद् हो उठे। उन्होंने उसे हृदय से लगा लिया और, उसकी यह मांग तो स्वीकार की ही, सदा के लिए सिंहगढ़ की किलेदारी भी उसी को देदी।

(७)

रात्रि के आठ बज चुके थे। हेमराज भोजन कर रहा था और रुक्मा रोटी बनाकर हाथ धो रही थी। सामनें एक छोटा सा मृत्तिका प्रदीप जल रहा था। सहसा देवराज की बात निकल गई। "वह कहां

होगा ! किस स्थिति में होगा ? जीवित भी होगा या नहीं ?" सोचते सोचते हेमराज की रोटी आंसुओ से भीगने लगी। रुक्मा का हृदय भी पश्चाताप की अग्नि से जल उठा और वह अपने को श्राप देने लगी।

अकस्मात् बाहर से आवाज आई, "भाभी ! मैं आगया हूँ। इस युद्ध में देश-शत्रु पूर्णतः परास्त हुआ है।"

सुनकर दोनों पती-पत्नि ने मोर की तरह कान खड़े किये। दोनों ही का मन कह उठा, "हैं ? हां यही तो है ? वही चिरपरिचित कण्ठ स्वर तो हैं ? हे भगवान ? अन्त में आपने हमारी पुकार सुनली क्या ?"

दूसरे ही क्षण दोनों भागकर बाहर आए। किन्तु जो कुछ देखा, उस से तो मानों उन्हें काठ मार गया। देखा, देवराज नहीं, रक्त से लथ-पथ, दोनो हाथों में रक्ताक्त खडग लिये देवराज का रुण्ड खडा झूम रहा है !

देखकर क्षणभर दोनों स्तब्ध हो रहे। किन्तु दूसरे ही क्षण हेमराज की छाती गर्व से फूलकर सवाई होगई। उसने स्त्री के कान में कुछ कहा। वह घर में चली गई। इधर ग्रामवासी भी एकत्र होगए और देवराज के रुण्ड को हाथ जोड़ २ प्रणाम करने लगें। कुछ ही देर में रुक्मा घृत का चतुर्मुख दीपक जला अक्षत-कुंकुम आदि थाली में रक्खे बाहर आई और सभक्ति देवर की पूजा कर आरती की। आरती समाप्त होते ही रुण्ड धड़ाम से गिर पड़ा और साथ ही उसके पैरों में गिरपड़ी रुक्मा !

५—"हरिदास"

(एक ऐतिहासिक कहानी)

बात सन १७६८ की है। उस समय अवध की नवाबी की सीमा पर कर्मनाशा नदी के दोनों किनारों वाले पहाडी प्रदेशों में दो छोटे, किन्तु प्रबल प्रजातंत्र थे। एक था रुहेलों का जो रुहेलखण्ड कहलाता था और दूसरा था हिन्दुओं का जिसे लोग देव खण्ड कहते थे। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि रुहेलखण्ड में केवल रुहेले और देव खण्ड में केवल हिन्दू बसते थे। वैसे तो दोनों ही में हिन्दू-मुसलमान आदि सबकी मिश्रित बस्ती थी। हाँ, प्रत्मेक खंड में अपनी जाति की प्रधानता थी। अर्थात् रुहेलेखण्ड में रुहेले सबसे अधिक थे और देवखंड में हिन्दू।

इन खण्डों की शासन व्यवस्था बड़ी विचित्र थी। अंग्रेज लेखकों ने भी कम से कम रुहेल खंड का वर्णन ज्यों का त्यों किया है। उनके कथनानुसार न इस खंड का कोई राजा था न नवाब। प्रत्येक अपने घर का राजा था और सब के बराबर ही भूमि का मालिक। प्रत्येक ग्राम का शासन उस ग्राम की पंचायत के हाथ में था। क्या भूमि और सम्पत्ति का बटवारा और क्या न्याय-रक्षा, शिक्षादि का प्रवन्ध सब कार्य ग्रामवासी परस्पर मिलकर करते थे। सबल हो या निर्बल धनी हो या दरिद्र हिन्दू हो या मुसलमान न कोई दूसरे की स्वतन्त्रता में हाथ डालता था, न कोई वरिष्ठ के लिए पचता था। उल्टी निर्बलों और कम संख्या वाले लोगों को विशेष सुविधायें थीं। कारण यदि किसी ग्रामसे कम संख्या वाले लोगों को भागना पडता तो उस ग्राम की बडी बदनामी होती। लोग वहां के निवासियों को असभ्य और स्वार्थी मानने लग जाते।

इतना ही नहीं सार्वजनिक व्यवस्था भी बड़ी अच्छी थी। यह व्यवस्था सब ग्रामों के मुखिया मिलकर करते थे। मि० टॉरेंस ने रुहेलखण्ड के विषय में लिखा है कि वहां व्यापारी लोगों के लिए कोई भय नहीं था। चोर डाकुओं का प्रायः नाम भी नहीं सुना जाता था। न्याय दूध का दूध और पानी का पानी होता था। मुखियों और पंचों की आज्ञा अमर रेख की तरह मानी जाती थी। किंतु साथ ही उन्हें कोई दूसरों का राज्य छीनने या लूट मार के लिऐ नहीं उकसा सकता था। कारण वे इसे पाप समझते थे। यह उनकी सामाजिक व्यवस्था को देखते स्वाभाविक भी था। वे शान्ति-प्रिय तो थे ही, प्रकृत जीवी भी थे। बिना श्रम के खाना उन में दोष गिना जाता था और विलास एवम् आडम्बर घृणा की दृष्टि से देखे जाते थे। शौकीन स्त्री-पुरुष समाज को हानि पहुँचाने वाले और भ्रष्ट-चरित्र माने जाते थे और मुफ्त खोरे निन्दाभाजन। फलतः सब को एक ही व्यसन था और वह था श्रम का। किसी बात के लिए वे बाहर के मुहताज न थे। भूमि उनकी आवश्यकतायें पूर्ण करने को काफी थी। पुरुष उसमें सब प्रकार के धान्य, फल, शाकादि पैदा कर लेते थे और स्त्रियाँ अन्य गृह कार्यों के साथ ऊन और कपास आदि से वस्त्र तैयार कर लेती थीं। कर्मनाशा घर घर जल पहुँचा देती थी और श्रम करने में असमर्थ वृद्ध शिल्पकों का काम कर लेते थे। और इससे अधिक किसी समाज को चाहिए भी क्या ?

और स्वतन्त्रता एवम् सेवा-भाव के तो ये दीवाने ही थे। वैसे बरसों कोई यह जानने की भी चेष्टा न करता था कि पड़ौस के ग्राम में क्या हो रहा है। किन्तु, ज्योंही किसी ग्राम पर कोई विपत्ति आ पड़ती या किसी प्रदेश पर कोई चढ़ आता, त्यों ही बच्चा बच्चा उसकी सहायता को दौड़ पड़ता। उस समय हिन्दू-मुसलमान तो क्या स्त्री-पुरुष तक का भेद न रहता। सब रक्षा-कार्य में जुट पड़ते। कारण था कि ये प्रदेश छोटे होने पर भी सब के द्वारा आदर की दृष्टि से देखे जाते थे और धर्म भेद होने पर भी भाई-भाई की तरह रहते थे।

(२)

अकस्मात् इधर अवध के नवाब सिराजुद्दौला का दौरा हुआ। नवाब आडम्बर प्रिय थे ही। अतः चारों ओर धूम मच गई। ग्रामीण रुहेलों को भी कुतूहल हुआ और उनमें से कितने ही मुखिया सवारी आदि देखने चले गये। नवाब ने भी इन लोगों की प्रशंसा सुन रक्खी थी। अतः उनके आगमन की खबर सुनने पर उन्होंने उन लोगों को बुलवाकर सम्मान के साथ ठहराया। वे भी बड़े आदमी का आतिथ्य अस्वीकार न कर सके और उस दिन वहीं रह गये। किन्तु, जैसा कि हम कह चुके हैं ये लोग बिना श्रम खाना या बिना बदले दूसरे का आभार लेना दोष मानते थे। अतः उन्होंने नवाब के इस आतिथ्य के बदले उसे भी भोज देना निश्चित किया। और नवाब को तो यह प्रदेश सीमान्त पर होने से, इन लोगों के साथ मित्र भाव रखना ही था, अतः उसने आमन्त्रण स्वीकार कर लिया। रुहेलों ने भी खूब आतिथ्य किया और नवाब को एक स्थान में दो दिन ठहराया।

किन्तु यह आतिथ्य ही उनके लिए विष प्रमाणित हुआ, कारण प्रदेश के प्राकृतिक सौंदर्य, युद्धोपयोगी स्थानों और भूमि की उत्तमता ने नवाब के मन में उनके प्रति विकार-बुद्धि उत्पन्न करदी। उसने उसी घड़ी उक्त प्रदेश को अपनी नवाबी में मिलाने का इरादा कर लिया। सर्प को दूध पिलाने का और परिणाम भी क्या हो सकता था? किन्तु साथ ही नवाब जानता था कि इन दोनों प्रजातन्त्रों का बल उसकी विशाल नवाबी से कई गुना अधिक है। अतः उसने अपना भाव तनिक भी प्रगट न होने दिया और कौशल से काम लेना निश्चय किया।

अब क्या था? नित्य ही रुहेलों के मुखिये लखनऊ बुलाये जाने लगे। नित्य ही नवाब के आतिथ्य पुरस्कार-दान और वैभव की चर्चा से रुहेलखण्ड की पहाड़ियां गूंजने लगीं। यही नहीं, इसके साथ ही नवाबी आडम्बर भी मुखियों में प्रवेश करने लगे। और जब आडम्बर

बढ़े तो व्यय एवम् अधिक धन की आवश्यकता भी बढ़ी। उधर नित्य आने जाने से गृह कार्यों और आय देने वाले धन्धों पर भी कुप्रभाव पड़ने लगा। सार यह कि नवाब का नीति कौशल सफल हो चला। उसने धीरे धीरे उन्हें दूसरों से राजस्व लेने के मुखियों के अधिकार की भी बात सुझानी प्रारम्भ कर दी। अवश्य ही इस बात से एक बार मुखिया लोग चौंके। किन्तु थोड़े समय के लिए ही। कारण आवश्यकता सामने थी। शराब कबाब और आडम्बरों का खर्च स्वय उन्हें किसी ऐसी बात का आश्रय लेने का संकेत कर रहा था।

अन्त में सब से पहले कमालपुर का दिलावर खां नवाब का चेला बना। उसने रुहेलखण्ड में नवाबी की नींव डालने का इरादा किया और धीरे धीरे नवाब की सम्मति से अपने कस्बे में अनुकूल वातावरण बनाने लगा, किन्तु यह सब हो रहा था अप्रत्यक्ष रूप से ही! कारण वह भी लोगों से भय खाता था। उनको थोड़ा सा भी सन्देह हो जाता तो तुरन्त मुखियापन का सेहरा दूसरे के सिर बंध जाना संभव था।

किन्तु इस अप्रत्यक्ष कार्य में भी एक बाधा आ खड़ी हुई। यह बाधा भी मुसलमानों की ओर से नहीं, एक हिन्दू की ओर से थी। साथ ही श्री भी ऐसी प्रबल कि उसके जहर को मारना दिलावर खाँ की शक्ति के बाहर था।

यहां इस हिन्दू का भी थोड़ा सा परिचय दे देना अनुचित न होगा, यह एक वैरागी साधु था। नाम था हरिदास। पाठक कहेंगे, "एक वैरागी की बाधा और दिलावर खां के लिए भारी? सब से वैरागी अवश्य कोई बड़ा मुखिया होगा, अथवा वहां हिन्दुओं की अधिकता होगी।" किन्तु वास्तव में इनमें से एक भी बात न थी। हरिदास मुखिया तो था ही नहीं। धनाढ्य व्यक्ति भी न था। साधारण कृषक था। ग्राम में हिन्दू भी अधिक न थे। छूत-अछूत सब मिलाकर पन्द्रह बीस थे। हां थे धर्म भीरु और इसीलिए उन्होंने [illegible] से अपना

एक विशाल मन्दिर बनवा रक्खा था। हरिदास इन इने गिने हिन्दुओं के इस मन्दिर का ही पुजारी था। किन्तु हरिदास में कई गुण ऐसे थे जिनके कारण अधिक से अधिक प्रभावशाली भी उसे आदर देने को बाध्य थे। ये गुण थे, सेवा, समता और त्याग। वे मन्दिर में या धर्मार्थ आये हुए, धन में से एक पैसा भी छूना पाप समझते थे। और भिक्षा तो उनकी दृष्टि से सब से हेय कार्य था। वे कहते थे कि भिक्षा पर निर्वाह करने का अधिकारी वही हो सकता है जो जनता की उच्चतम सेवा कर सकता हो और साथ ही अपने आठों पहर लोक-सेवा में लगाता हो। साधारण जन के लिए तो भिक्षा घोर लज्जा-जनक कर्म है। इसीलिए वे अपना जीवन निर्वाह तो कृषि द्वारा करते थे और मन्दिर की आय से एक पाठशाला चलाते थे। इस शाला में उर्दू, अरबी हिन्दी और संस्कृत-चारों भाषाओं की पढ़ाई की व्यवस्था थी। पढ़ने भी सब श्रेणी के लडके आते थे। न अछूतों के लिए उसके द्वार बन्द थे न मुसलमानों के लिए।

यही अवस्था मन्दिर की थी। वहां भी दर्शनार्थ आने से वे किसी को नहीं रोकते थे। वे कहते थे, "भाई भगवान् तो सब के पिता हैं। उनके दरबार में न कोई छोटा न बड़ा। न ब्राह्मण न शूद्र। न हिन्दू न मुसलमान। फिर मैं रोकने वाला कौन! अवश्य ही प्रारम्भ में कुछ लोगों ने इस पर नाक-भौंह चढ़ाई थी। किन्तु धीरे धीरे नई बात नौ दिन चल कर शान्त होगई। अब सब सन्ध्या समय स्नान कर मन्दिर पर एकत्र हो जाते थे और दर्शन प्रार्थना के पश्चात प्रायः भजन आदि गाते थे। भजन मंडली में प्रायः चमार, मुसलमान, ब्राह्मण, साधु आदि एक जगह बैठ कर गाते बजाते देखे जाते थे।

हरिदास का मुसलमानों से भी खूब सौहार्द था। उनके लड़के उनकी शाला में पढ़ते थे। और उनमें से गाने के शौकीन उन के मन्दिर में पद-ठुमरियां गाते-सुनते थे। मन्दिर का पैसा सब के हित के लिए था, इस दृष्टि से अनेक मुसलमान मन्दिर में कुछ द्रव्य-

धान्यादि भी भेंट कर जाते थे। इसके अतिरिक्त उनके उत्सवों आदि में जब कभी काम पड़ता तो हिन्दुओं की संख्या कम होने के कारण मुसलमान स्वयं आकर सहायता करते।

फिर हरिदास वैद्यक के ज्ञाता और सेवा के व्यसनी थे। किसी के रुग्ण होने की खबर सुनी नहीं कि वे पहुँचे नहीं। चाहे रोगी छूत हो चाहे अछूत, स्वधर्मी या विधर्मी वे उसकी तन-मन से चिकित्सा करते। उसपर विशेषता यह कि इस सेवा का वे पुरस्कार कभी नहीं लेते थे। वे कहते थे "वैद्यक तो सेवा की ही विद्या है। उससे अर्जन करना अधर्म है। अर्जन करनें को और ही धन्धे बहुत हैं।" इन सब कारणों से बच्चा बच्चा उन पर श्रद्धा रखता था।

ये ही हरिदास दिलावर खां की आंखों में खटकने लगे। क्यों? इसीलिए कि दिलावर खां नवाब की हिदायत के अनुसार विलास, अपव्यय और भेदभाव संबंधी जिन बातों का प्रचार करना चाहता था, उन्हीं से ये लोगों को विरत करते थे। लोगों के भी ध्यान में हरिदास की ही बातें ठीक जंचती थीं। कारण प्रथम तो वे सच होती थीं। फिर वे उनके अब तक के रिवाजों के अनुकूल थीं। और यह तो सम्भव ही न था कि हरिदास को कोई बात मालूम न हो। ग्रामवासी स्त्री-पुरुष चाहें अपने कुटुम्बियों से कोई बात छिपालें, हरिदास से न छिपाते थे। बुड्ढे और पढ़े लिखे तक हरेक बात में उसकी सलाह लेते थे।

(३)

लाचार दिलावर खां ने इस कांटे का जिक्र नवाब से किया। नवाब ने कहा, "ये काफिर तो हमेशा इस्लाम की तरक्की में रुकावट डालते रहे हैं। आप लोगों ने इनको सिर पर चढ़ा कर ही बड़ी गलती की है।"

दिलावर बोला, "हम लोगों ने थोड़े ही किया है। न जाने किस जमाने से ऐसा ही सिलसिला चला आता है।"

" लेकिन अब तो यह सिलसिला नुकसान देह साबित हो रहा है।"

" हां, सो तो है ही, लेकिन इसे बदलना भी तो बड़ी टेढ़ी खीर है!"

" क्यों ?"

" इसीलिए कि लोगों पर उसका असर मुखियों से भी ज्यादा है।" नवाब ने कुछ चिन्तित होकर कहा : " तो तुम उनमें नफाक क्यों नहीं डाल देते!"

" नफाक़ कैसे डाला जाय ? लोग तो उसे बाप की तरह समझते हैं। आधे से ज्यादा आदमी उसके शागिर्द हैं।"

क्यों ? मजहब की बिना पर नफाक क्यों न डाला जाये ?"

" किस तरह ?"

" उनको यह बताया जाय कि इसके मन्दिर पर जाना, उसमें कुछ चढ़ाना या इनके त्यौहारों में शामिल होना कुफ्र है और दीन इस्लाम के खिलाफ़ है। इस तरह जहां नफरत की जड़ पैदा हुई कि आप का मक़सद पूरा हुआ।"

" लेकिन यह बहुत मुश्किल है। सैंकड़ों बरसों के जमे हुए ख्यालात को इतनी जल्दी कैसे बदला जा सकता है ? इसके अलावा हम लोगों का इतना असर ही कहाँ है ?"

" तो एक काम करो।"

" फरमाईये!"

" हम यहां से कुछ और मौलवियों को भेजेंगे। आप उनकी तारीफें करके लोगों के दिलों में उन के लिए इज्जत और एतमाद पैदा कर रखिये। बस फिर वे सब कर लेंगे!"

"हां, यह ठीक है। ऐसे लोगों पर उन्हें एतमाद भी हो जायेगा। हां, वे भी एक दम हरिदास के खिलाफ कुछ न कहें।"

"नहीं जी! उसकी तो वे फिलहाल तारीफ करेंगे। उनका पहला काम तो होगा आम तौर पर उसके मजहब के खिलाफ लोगों को भड़काना।

* * *

अब क्या था, रुहेलखण्ड में नवाब के भेजे हुए मौलवियों के दौरे प्रारम्भ हुए। मुखिया लोग उनकी "तारीफों" के पुल बांधने लगे और भोले-भाले रुहेले उन तारीफों पर विश्वास कर उनके अनुगत बन चले। फलतः कुछ ही महीनों में लोगों में हिन्दू-मुसलमान की भेद-बुद्धि पैदा होगई। एक दूसरे से खिंचे रहने लगे और छोटी-छोटी बातों पर ही बखेड़े पैदा होने लगेंगे। इन बखेड़ों से भी फायदा उठाया जाने लगा। हर बखेड़े पर मजहबी रंग चढ़ाना साधारण बात होगई।

* * *

इसी बीच में मौलवियों को एक और बहाना मिल गया। देवखण्ड के एक गुलाबपुरा नामक ग्राम में किसी देन-लेन के मामले में एक मुसलमान और एक हिन्दू में कुछ झगड़ा होगया। बस मौलवियों ने इस पर रंग चढ़ा बात का बतंगड़ बना दिया और दूसरे दिन कितने ही मुसलमानों को लेकर उक्त गांव के मन्दिर पर चढ़ाई कर दी। ग्रामीण भी असावधान थे। इसीलिए इस अनपेक्षित आक्रमण से वे कुछ घबराए। संयोगवश हरिदास उस दिन वहां गया हुआ था। अतः लोग सीधे उसके पास पहुँचे। सुनकर हरिदास भी तत्काल उनके साथ हो लिया।

किन्तु हरिदास के मन में एक नई समस्या खड़ी होगई। इसमें तो उन्हें कुछ भी सन्देह न था कि प्राण रहते मन्दिर को न टूटने देना

उनका धर्म है, किन्तु सशस्त्र संग्राम करके मन्दिर की रक्षा की जाए या निष्क्रय प्रतिरोध द्वारा, इस प्रश्न ने उन्हें द्विविधा में डाल दिया। वे विश्व-बन्धुत्व के सिद्धान्त को मानते थे। ईश्वर के एक होने में और मनुष्य मात्र के भ्रातृत्व में उन्हें सन्देह न था। किन्तु साथ ही वे मन्दिर पर भी आघात होते न देख सकते थे। तब क्या करें? "मूर्खता का उत्तर मूर्खता से दें या अनाचार को स्वतन्त्रता पूर्वक खुल खेलने दें?" इस प्रश्न ने उन्हें घपले में डाल दिया।

उनका एक तर्क कहता था कि "धर्म सर्वोपरि है अतः जहां नैतिक बल से उसकी रक्षा न हो सकती हो, वहाँ पशु-बल का प्रयोग विहित है"

दूसरा कहता था, "नहीं! पशु-बल-प्रयोग पशुओं ही के लिए विहित है, मनुष्य के लिए नहीं। मनुष्य प्राण दे सकता है, ले नहीं सकता उसका प्राण रहते अधर्म और अनीति को न मानना ही धम और नीति की रक्षा करना है।" अन्त में हरिदास ने अपने लिये पिछला ही मार्ग चुना और इसलिये सीधा मन्दिर पर पहुँचा, खाली हाथों सीढ़ियों पर खड़ा होगया।

इधर हिन्दू भी सजकर आगये थे, किन्तु हरिदास ने उनसे कहदिया था कि जब तक मैं न गिरजाऊं, तब तक कोई अपनी ओर से मार-पीट प्रारम्भ न करे। हां, मेरे गिरने के बाद, यदि तुम मेरा अनुकरण न कर सको तो तुम्हें शस्त्र बल से भी अपनी और अपने धर्म स्थानों की रक्षा करने का अधिकार है।

उधर मुसलमान भी इस निहत्थे आदमी को राह रोकते देख कुछ चिढ़े और एक कड़क कर बोला, "हट जा बे रास्ते से।"

हरिदास इस पर कुछ मुस्कराया। फिर उसने उच्च स्वर से कहा, "मैं हटने के लिए नहीं आया हूँ, यहां खड़ा रहने को आया हूँ। मेरे जीते जी तुम इस मन्दिर को हाथ नहीं लगा सकते। लेकिन एक बात मैं

तुम्हें साफ बता देना चाहता हूँ। वह यह कि ऐसी मामूली बातों को धार्मिक रंग देकर आप लोग बड़ी भूल कर रहे हो। पहले तो मुझे यह ख्याल नहीं था, लेकिन इधर कुछ दिन से जो कुछ देख सुन रहा हूं, इससे मुझे यकीन होगया है कि ये मौलवी लोग किसी खास मकसद से आप लोगों को गलत रास्ते पर ले जा रहे हैं और जान बूझ कर हिन्दू मुसलमानों में फूट पैदा कर रहे हैं ·· ·····"

बस इतना कहना था कि मौलवियों ने गुल-गपाड़ा मचाना आरम्भ किया। कोई बोला, "काफिर झूठ बोलता है?" "देखो तो उल्टा हम पर ही तुहमत लगाता है!" किन्तु भीड़ में कमालपुर के भी कुछ मुसलमान थे उन्हों ने कहा, "क्या हर्ज है, उसकी भी सुननी चाहिए।" इस पर एक मौलवी बोला। "तुम लोग कमालपुर वाले सब गुमराह हो रहे हो। तुम्हें एक काफिर से मोहब्बत है, लेकिन अपने दीन का पास नहीं।" इसी समय हरिदास ने फिर कहना प्रारम्भ किया। वह बोला "मान लो कि किसी हिन्दू ने गलती की है। किन्तु इससे मन्दिर और दीन का क्या संबंध? मन्दिर तो किसी का भी हो, पाक है। आखिर इस दुनिया को बनाने वाला एक है। अलग-अलग नाम रख लेने से ही तो वह दूसरा नहीं हो सकता और इसलिए चाहे मस्जिद हो चाहे मन्दिर, सब उसी के इबादतगाह हैं। ऐसी हालत में क्या मन्दिर का तोड़ना मस्जिद तोड़ने के बराबर न होगा?"

उस पर एक बोला, "भाई बात तो ठीक है। मन्दिर हो या मस्जिद बात तो एक ही है। इबादत तो दोनों में मालिक की ही होती है।"

दूसरा बोला, "यह तो बनी हुई ही बात है भाई। राम कहो या रहीम, अल्ला मियां तो एक है?"

मौलवियों ने देखा कि खेल बिगडता है। अतः एक बोला, "हम बुत परस्ती को खुदा परस्ती नहीं मानते।" हरिदास ने कहा,

तुम्हें मनाता कौन है। लेकिन दूसरे को अपने अकीदे के मुआफिक रहने से रोकना भी तो तुम्हारा फर्ज नहीं है। जब मालिक ने सबको सोचने की अलग अलग समझ दी है तो इसके साफ मानी यही हैं कि उसकी तरफ से हर आदमी को अपनी मर्जी के मुआफिक उसकी इबादत करने का इख्तियार है। तुम्हारी लड़ाई है तो आदमी से है न कि इबादत खाने से।"

इसपर दूसरा बोला, "यार कहता तो ठीक है। लड़ाई है तो आदमी से है। मन्दिर से क्या मतलब!"

एक मौलवी बात टालने को बोला, "लेकिन यह बीच में क्यों बोलता है? यह मन्दिर इसका तो है ही नहीं!"

दूसरा बोला, "अजी बड़ा मगरूर है। देखो न कैसी बातें बना रहा है"

हरिदास बोला, "मन्दिर और मस्जिद किसी एक के नहीं हुआ करते। वे ईश्वर की पूजा की जगहें हैं और इसलिए सबकी है। इसीलिए मैं आज जिस तरह इस मन्दिर के सामने खड़ा हूँ, इसी तरह कल कोई मस्जिद को तोड़े तो उसके सामने भी खड़ा होऊंगा। क्यों कि वह भी उसी मालिक का इबादतखाना है और उसे बचाना हर इन्सान का काम है।"

एक मौलवी बोला, "मुझे हथियारों की जरूरत नहीं है। जब मैं ईश्वर को एक मानता हूँ तो यह भी मानता हूँ कि इन्सान, फिर वे चाहे किसी जाति या मजहब के हों - सब उसके बन्दे और इसलिए भाई-भाई हैं। और जब हम भाई-भाई हैं तो एक दूसरे के खिलाफ हाथ भी नहीं उठा सकते।"

दूसरा मौलवी बोला, "हम तो उठा सकते हैं।"

हरिदास ने कहा, "तुम उठा सकते हो तो उठाओ। मैं भी सब

कुछ सहने को तैयार हूँ। चाहे जो होजाए मैं प्राण रहते तुम्हें यह अजाब न करने दूंगा ”

मौलवियों ने मुसलमानों को ललकारा, कहा, “ देखते क्या हो ? मारो ! काफिर को, इसकी बातों में न आओ ?”

किन्तु मुसलमान आगे न बढ़े। बढ़ते क्या, वे खुद धपले में पड़ गये थे। वे सोच रहे थे कि “ जो आदमी हम पर हाथ नहीं उठा रहा है, उसपर हाथ उठाना हमारा फर्ज है क्या ?’

स्वार्थी लोग यह देख कर अधीर हो उठे और उनमें से एकने, लोगों की हिचकिचाहट दूर करने के लिए आगे बढ़ कर हरिदास के कन्धे पर छुरे का वार कर ही तो दिया। किन्तु फल उल्टा हुआ।

हरिदास के कन्धे में तीन चार अंगुल गहरा घाव लगा। रक्त की धार बह चली। किन्तु हरिदास ज्यों का त्यों शांत भाव धारण किये खड़ा रहा। वह इस तरह खड़ा था मानो कुछ हुआ ही नहीं है। रक्त बह रहा था, तो भी उसके मुखपर वही शाँति थी। वही तेज था। वही मुस्कराहट थी। छुरे के उत्तर में भी उसने केवल यही कहा:— “ मालिक तुम्हें माफ़ करे और सच्चाई का रास्ता दिखाये।”

अवश्य ही इससे हिन्दू कुछ उत्तेजित हुए, किन्तु हरिदास ने उन्हें रोक दिया। कहा, “ ये भी हमारे भाई हैं। आज भूल रहे हैं, कल खुद पछतायेंगे।”

यह अवस्था देखकर और तो और स्वयं छुरा चलाने वाले का भी क्रोध हवा होगया। वह मनमें सोचने लगा, “ यह शख्स ढोंगी नहीं सचमुच खुदा परस्त है। भला ऐसे आबिद का खून खुदा कब माफ़ करेगा ?”

कमालपुर वाले तो आपे से बाहर हो होगए। वे खुद मन्दिर की सीढ़ियों पर आखड़े हुए और बोले, “ पहले हममें से हरेक गिर जायेगा, तब कोई मन्दिर को हाथ लगा सकेगा।”

लाचार मुसलमानों का दल वापस लौट गया। किन्तु इससे क्या? इसमें सन्देह नहीं कि मन्दिर बच गया. फिर भी बैमनस्य तो बढ़ा ही यहां तक कि हरिदास और उसके साथी अन्य हिन्दू गृहस्थों को अपनी हरि मूर्ति एवं सम्पत्ति को लेकर गुलाबपुरे में चले आना पड़ा।

(४)

थोड़े दिन पश्चात् ही नवाब को संवाद मिले कि मरहठे इस ओर चढ़ाई करने वाले हैं। अतः उसने झटपट रुहेलों से एक संधि करली, जिसके अनुसार मरहटों को अपनी सीमा में होकर इधर न आने देने को रुहेले बाध्य होगये। किन्तु देवखण्ड को अकेला छोड़ दिया गया। यथा समय मरहठों की सेना आई और देवखण्ड वालों से रास्ता और सहायता मांगी। उन्होंने कहा, "हमें नवाब से लड़ना है और तुम हिन्दू हो, इसलिए तुम्हे हमारा साथ देना चाहिए।"

हिन्दू असमंजस में पड़े। अब तक वे प्रत्येक आक्रमणकारी से हिन्द-मुसलमान सब मिलकर लड़ते थे और अपनी स्वतन्त्रता को सर्वोपरि समझते थे। किन्तु इस बार अवस्था बदली हुई थी। फिर भी उन्होंने रुहेलों से पुछवाया। रुहेलों ने कहलाया कि हम लड़ेंगे तो अवश्य, किन्तु तुम्हारे साथ मिलकर नहीं लड़ेंगे। जब वे हमारी सीमा पर आवेंगे तब लड़ेंगे। किन्तु इस उत्तर ने हिन्दुओं की अवस्था को और जटिल ही बनाया। वे अकेले मरहटों की प्रबल सेना से जीत तो सकते ही न थे, उसे अधिक दिन रोक भी न सकते थे। फिर रुहेलों की सहायता करने को तो नवाब और अंग्रेज तैयार थे, किन्तु देवखण्ड को सहायता देने वाला कौन था? ऐसी अवस्था में उनका युद्ध करना केवल अपने सर्वनाश को आमन्त्रण देना था। किन्तु युद्ध न करने से भी काम चलता दिखाई न देता था। आखिर विजयी होने पर मरहटे उनकी शासन प्रणाली को बदलने की चेष्टा न करेंगे इस बात का क्या भरोसा था।

अन्त में हरिदास ने भी कौशल से काम लिया। उसने एक ओर तो युद्ध की तैयारी प्रारंभ कराई और दूसरी ओर संधि की बातचीत छेड़ी। मरहटे भी इनसे युद्ध न करना चाहते थे। कारण प्रथम तो थोड़े होने पर भी ये लोग परले सिरे के वीर थे। दूसरे पहाड़ी प्रदेश होने के कारण उन्हें हराना आसान न था। अतः जब उन्होंने देखा कि देवखण्ड वाले युद्ध की तैयारी कर रहे हैं, तो सहायता की शर्त छोड़ दी और उनसे केवल तटस्थ रहने एंव मार्ग देने की मांग करने लगे। हरिदास ने कहा, "यह मांग स्वीकार की जा सकती है, किन्तु इस शर्त पर कि हमारी स्वतन्त्रता और व्यवस्था में कुछ भी हस्तक्षेप न किया जायगा।" मरहटों ने यह स्वीकार कर लिया।

* * *

अब रुहेलों और मरहटों में युद्ध छिड़ा। इसमें सन्देह नहीं कि मरहटों ने उनसे भी देवखण्ड की सी सन्धि करन की चेष्टा की थी। किन्तु वह विफल रही। कारण प्रथम तो रुहेलों को नवाब की सहायता का भरोसा था। दूसरे वे सन्धि के अनुसार मरहटों को मार्ग न देने को प्रतिज्ञाबद्ध थे। लेकिन नबाब ने सहायता नहीं भेजी। हां, वह आजकल भेजने का विश्वास बराबर दिलाता रहा। फल यह हुआ कि भरोसे ही भरोसे में रुहेले बरबाद हो गये। उनकी धन जन आदि सब प्रकार की सबसे अधिक और मूल्यवान शक्ति मरहटों की क्रोधाग्नि में स्वाहा होगई।

अन्त में जब रुहेले हारकर भाग छूटे, तब नवाब की और हेस्टिंग की सेना ने मरहटों से मोर्चा लिया। मरहटों की भी इस युद्ध में भारी क्षति हुई। रुहेलों की मित्रता के कारण नवाब और अंग्रेजी सेना को पहाड़ी प्रदेशों का आश्रय मिल जाने से उनके लिए आगे बढ़ना कठिन हो पड़ा और कई महीने के युद्ध के पश्चात् वे विफल मनोरथ होकर वापिस लौट गये।

० * *

मरहटों के लौटते ही रुहेले फूल उठे। इतनी हानि उठाकर भी अन्त में वे विजयी होगये हैं, इस विचार ने मानों उन्हें सारी हानि भुलादी। फलतः पहाड़ी-पहाड़ी प्रसन्नता और उल्लास की ध्वनियों से गूंज उठी और ग्राम-ग्राम में विजय गीतों की सुरसरी बहने लगी। किन्तु यह उल्लास एक रात ही रहा। कारण ज्योंही मरहटों के दूर निकल जाने के संवाद मिले त्यों हीं अंग्रेजी और नवाबी सेनाएँ रुहेलों पर टूट पड़ी। रुहेले इस धोखे से बेतरह घबड़ाये। परन्तु अब घबड़ाने से क्या होता था ?

इसमें सन्देह नहीं कि रुहेले नवाब की इस दुष्टता के सम्मुख भी सरलता से नहीं झुकगये। उन्होंने नवाब की और अंग्रेजी फौज का भी दृढ़ता से सामना किया। प्रत्येक पहाड़ी और घर शत्रु के लिये एक मोर्चा सिद्ध हुआ। स्त्रियों तक ने तलवार चलाई, किन्तु फिर भी सफलता नहीं हुई। होती भी कहां से ! उनका धन, जन और युद्ध सामग्री तो पहले ही स्वाहा हो चुकी थी, इस आक्रमण के लिए वे तैयार भी न थे। फिर नवाब मित्र बन २ कर घरमें घुस आया था और अनेक युद्धोपयोगी स्थानों पर अधिकार जमा बैठा था। परिणामतः रुहेले हार गये और नवाब विजय दुंदुभी बजाता लखनऊ को लौट गया।

* * *

देवखण्ड निवासियों ने भी रुहेलों की बरबादी की यह कथा सुनी तो स्तब्ध रह गये। उनकी मानों एक भुजाटूट गई। विरोधी था तो भी वह एक उनकी समान शासन व्यवस्था वाला प्रदेश था। कभी न कभी उससे अपनी भूल समझ जाने की आशा थी। वे और तो कुछ कर न सकते थे, रुहेलों के घायलों की चिकित्सा और असमर्थ परिवारों की सहायता करने लगे। किन्तु यह कार्य भी सरल न था। कारण नवाब के सैनिकों की चौकियां जगह-जगह बैठी थीं और रुहेलों से सहानुभूति दिखाने वाले प्रत्येक व्यक्ति को उनको तलवार के घाट उतरना पड़ता था।

(५)

दूसरे दिन रात्रि के समय हरिदास घायलों को उठवा रहा था कि कुछ अधिक दूर निकल गया। सहसा उसके कान में घोड़ों की टापों की ध्वनि आई। वह एक झाड़ी में छिप रहा। थोड़ी ही देर में दो सवार आते दिखाई दिये, जिनके घोड़ों पर एक-एक गाँठ बंधी थी। हरिदास दम साध कर उनकी बातें सुनने लगे। उनमें से एक बोला: —

"यार लड़की क्या है, परी है? ऐसी खूबसूरत औरत तो नवाब के महलों में भी शायद ही हो। देखने से मालूम होता है जैसे कोई शाहजादी हो?"

दूसरा बोला, "तो दिलावर खां क्या नवाब से कम था। उसकी लड़की शाहजादी जैसी होनी ही चाहिये।"

"मगर कितनी मुश्किल से काबू में आई है! हमारे यहां तो नौजवानों में भी इतनी ताकत नहीं देखी जाती। शाहजादियों में तो कहाँ?"

"सो तो आखिर ये लोग पहाड़ी हैं। फिर खुली हवा में रहते हैं?"

हरिदास समझ गया कि ये लोग नवाब के आदमी हैं और दिलावर खाँ की लड़की को लिये जा रहे हैं। दूसरी गाँठ में भी कोई स्त्री ही होगी। किन्तु इस समय वह क्या करे! जाने दे या इनका उद्धार करे? स्त्रियां तो किसी की भी हों उनकी रक्षा करनी ही चाहिए। पर यह हो कैसे! वह अकेला है, सैनिक दो हैं। भागने का भी प्रभाव होने की संभावना नहीं।

इसी समय सवार झाड़ी के बराबर आ पहुँचे। अब अधिक सोचने का समय न था। हरिदास तलवार लेकर उछला और आगे सवार को घायल कर धराशायी कर दिया। दूसरा घोड़ा फेंककर भगा और

जल्दी से घोड़े पर सवार होने लगा। किन्तु हरिदास ने उसे सवार होने से पहले ही जालिया और टांग पकड़ कर नीचे खींच लिया। फिर उसके मुंह में कपडा ठूंस, उसे उसी के साफे से बांध कर डाल दिया और तब घायल सैनिक की ओर घूमा। वह भी यद्यपि अब सम्हल चुका था, तथापि हरिदास पर आक्रमण करने का साहस न कर सका। हरिदास ने कहा, "यदि तुम चुप रहोगे तो तुम्हारी जान बच जायेगी, वरना मारे जाओगे।" इसके पश्चात् पहले तो उसने उसे निः शस्त्र किया और फिर उसके घाव की मरहम पट्टी कर एक कगार में सुला दिया। और रात भर वहीं पड़े रहने की हिदायत कर दी। इससे अधिक कुछ करने की उसे आवश्यकता भी प्रतीत नहीं हुई। कारण हरिदास जानता था कि वह अपने घाव के आगे स्वयं भी पैदल नहीं जा सकता। अतः फिर वह दोनों घोड़े को लेकर रवाना होगया। किन्तु इस झमेले में रात बहुत थोडी रह गयी थी। हरिदास समझ गया कि वह सूर्योदय के पूर्व अपनी सीमा में नहीं पहुँच सकता। अतः उसने मार्ग में ही कोई सुरक्षित स्थान ढूंढना प्रारंभ किया। इसमें उसे विशेष कठिनाई भी नहीं हुई। कारण वह इन प्रदेशों में रहा हुआ था और प्रत्येक स्थान से परिचित था। एक सघन उपत्यका में एक गुफा मिलने पर हरिदास दोनों गांठों को उतार कर वहां लेगया और उन्हें ज्यों की त्यों रख घोडों को आगे लेचला।

* * *

हरिदास घोड़ों को उक्त स्थान से प्रायः दो मील आगे छोड़कर लौट रहा था, मार्ग के दोनों ओर लोथें पड़ी थीं। शृगालादि उन्हें खींच रहे थे। सारी भूमि और वनस्पति रक्ताक्त हो रही थी। जाते समय कार्य की धुन में उसने ऐसी बातों पर ध्यान नहीं दिया था। किन्तु इस समय उसके हृदय पर इनका प्रभाव हुए बिना न रह सका। वह सोचने लगा, "क्यों मनुष्य पशु से भी गया बीता बन जाता है! इस भूमि और माया को आज तक कौन साथ लेजा सका है? ये किसकी होकर रही हैं! किसी की भी तो नहीं! और मृत्यु का किसको पता है! कौन जानता है

कि आज इतना पाप करके जो संग्रह किया है, कल उसे ज्यों का त्यों छोड़कर चल देना होगा ! न उसे भोगा जासकेगा न साथ ले जाया जा सकेगा ! हां, पाप अवश्य पल्ले बंध जायेगा। फिर भी मनुष्य क्यों इन हत्याकाण्डों की रचना करता है ! क्यों अपने भाईयों के गले पर छुरी फेरता है ? क्या इन लोगों से पशु अच्छे नहीं हैं ? कम से कम वे इतने स्वार्थी और हिंसक तो नहीं हैं। फिर इन रुहेलों ने नवाब के लिए क्या नहीं किया था ? लोग कहते हैं दीन दीन ! जाति २ !···"

सहसा किसी के कराहने की आवाज आई। हरिदास चौंका। दम साधकर खड़ा हुआ। आवाज फिर आई। हरिदास ने पहचाना कि आवाज मनुष्य की ही है। अतः उसी सीध में चला। थोड़ा ही आगे गया था कि एक मुर्दों का ढेर दिखाई दिया। इसी के नीचे से अवाज आरही थी। हरिदास ने मुर्दों को हटाया और घायल को निकाला। किन्तु पहचान न सका। घायल भी अचेत था। इधर प्रकाश भी फैलने ही वाला था। अतः हरिदास ने उसे अपनी पीठ पर उठाया और चल पड़ा

आगे एक झरना था। उपत्यका भी वहां से निकट ही थी। हरिदास ने उसी झरने के किनारे घायल को उतार कर भूमि पर रक्खा और उसके वस्त्र उतार, शरीर को धोकर घावों का पता लगाने लगा। किन्तु यह क्या ? मुंह धोते ही उसने देखा, घायल और कोई नहीं स्वयं दिलावर खां हैं।

हरिदास उसे उठाकर उपत्यका में लेगया। स्त्रियां अभी अचेत ही पड़ी थीं उसने वृक्षों के पत्तों का गुदगुदा बिछौना बना दिलावर खाँ को उसपर सुलाया और फिर औषधियां एकत्र कर कूट पीस उसके घावों की मरहम पट्टी की। तत्पश्चात कुछ अग्नि तैयार की और उससे आवश्यक स्थानों पर सेक करने लगा।

प्रायः दो घंटे पश्चात दिलावर खाँ ने आंखें खोलीं। वह बड़े आश्चर्य से इधर उधर देखने लगा और कुछ देर में जब उसमें बोलने की शक्ति आई तब हरिदास से पूछा, "मैं कहाँ हूँ ?"

"रुहेलखण्ड की ही एक उपत्यका में।"

क्रमशः दिलावर खां को सारी पूर्व घटना स्मरण हो आई। और उसने पूछा,

"हरिदास जी क्या मैं बच जाऊंगा ?"

हरिदास बोले, "जरूर ? आपको जख्म हालां कि बहुत लगे हैं तो भी बहुत भारी नहीं हैं।"

"मुझे तो उम्मेद नहीं होती भाई। मेरा तो सर घूम रहा है ?"

"यह खून बहुत निकल जाने की बजह से है। फिर मालुम होता है आपके पेट में भी दो दिन से कुछ नही पहुँचा है।"

"हां, खाना तो गिरने के आठ पहर पहले खाया था ?"

"तब तो चक्कर बिना जख्मों के भी आने मुमकिन थे।"

इस बातचीत मे मानों दिलावर खां को फिर जीने की आशा बंधी। वह कुछ शान्त दिखाई देने लगा। इसी समय हरिदास ने उसे एक दवा अपनी थैली में से निकाल, पानी में घोलकर पिलाई। उससे मानों थोड़ी देर में ही दिलावर खां में नई स्फूर्ति पैदा होगई। उसने फिर पूछा, "लेकिन आप को मेरा पता कैसे लगा ? मैं कहां था ?"

"आप एक मुर्दों के ढेर के नीचे दबे हुऐ थे। मैं दूसरे घायलों को भिजवाकर जा रहा था, जब आपके कराहने की आवाज सुनी और निकाल कर यहां लाया।"

"तो यहां क्यों ?"

"इसलिए कि चारों तरफ नवाब की चौकियां पड़ी हैं।" सुनकर मानों दिलावर खाँ के मुख पर बादलों की छाया आ पड़ी। वह एक दीर्घ निःश्वास छोडकर बोला:—

"उफ़! खुदा हम लोगों को किस तरह माफ़ करेगा। हमने इस नवाब के कहने से आप लोगों के साथ क्या बुराई नहीं की?"

हरिदास सान्त्वना देते हुए बोले, "उसका ख्याल भी दिल में न लाइये। इन्सान से गलती होती ही है। आखिर हम फरिश्ते तो हैं नहीं!,,

"हां, हरिदासजी! लेकिन एक आप हैं और एक हमारी क़ौम है।"

"कोई क़ौम सारी की सारी बुरी भली नहीं होती खां साहब। सभी में भले भी होते हैं और बुरे भी होते हैं। अगर हम बुराई से बचकर अच्छाई को अपनाते रहें, तो कोई झगड़ा पैदा न हो। लेकिन हम कौम के नाम पर अन्धे हो जाते हैं, इसी से ऐसी बातें होती हैं।"

दिलावर खां की आंखों में आँसू आगये।

हरिदास बोले, "लेकिन इस वक्त ऐसी बातों को बिल्कुल न सोचिये, वरना मुमकिन है इनका असर जख्मों पर पड़े। अभी तो थोड़ी देर सोजाने की कोशिश करिये।" कहकर उसने फिर एक दवा दी, जिससे कुछ ही देर में दिलावर खां को नींद आगई।

(६)

अब हरिदास ने गांठों को खोला, देखा और कोई नहीं, एक दिलावर खां की लड़की फातिमा है और दूसरी उसकी मां। जांच करने पर हरिदास को मालूम हुआ कि वे किसी औषधि के द्वारा अचेत की गई हैं अतः उसने तदनुसार ही चिकित्सा प्रारम्भ की। फल भी अच्छा हुआ। प्रायः एक घन्टे में ही दोनों सचेत होगईं।

सचेत होते ही पहले तो वे कुछ न समझ सकीं कि वे कहां हैं और क्यों हैं? किन्तु क्रमशः जब उन्हें रात की सारी घटना याद आई और

शेष बातें हरिदास से सुनीं तब उनका हृदय हरिदास के प्रति कृतज्ञतन से भर उठा। वे उसे सच्चे हृदय से धन्यवाद देने लगीं।

हरिदास ने कहा, "इसमें अहसान मानने की क्या बात है। यह तो मेरा इन्सानी फर्ज था। अनजान को भी ऐसी हालत में मदद देनी चाहिए। फिर हम लोग तो एक दूसरे को अच्छी तरह जानते थे। लेकिन आप लोगों की यह हालत क्यों की गई थी?"

फातिमा बोली, "एक बार अब्बाजान मुझे लखनऊ लेगये थे। बस मालूम होता है, तभी से उस बदजात नवाब की नीयत बिगड़ी हुई थी। इसीलिए कल उसने हमें बुला भेजा और जब हमने इन्कार किया तब हमारी यह हालत की।" इस बातचीत से दिलावर खां की स्त्री को अपने पतिका स्मरण हो आया और वह रोती हुई कहने लगी, "अल्ला मियां जाने, उनकी क्या हालत हुई है! बचे भी हैं या नहीं?"

हरिदास ने कहा, "उनके लिए फिक्र न करिये! वे भी मुझे मिल गये हैं और मैं उन्हें ले आया हूँ। उन्हें जख्म तो बहुत लगे हैं, लेकिन बच जायेंगे।"

सुनकर दोनो मां-बेटी अधीर हो उठीं। बोली, "कहां हैं! हमें उनके पास पहुँचाइये न!"

हरिदास ने कहा, "एक शर्त पर लेचल सकता हूँ। इस वक्त उन्हें रंज नहीं पहुँचना चाहिए। इसलिए यह वादा करो कि तुम उन्हें आराम होने तक यह हादिसा न सुनाओगी।"

यह बात दोनो ने स्वीकार की। हरिदास उन्हें दिलावर खां के पास लेगया। फिर कहा, "इन्हें सोने दो, जगाने की कोशिश न करना। मैं तब तक आप लोगों के और इनके लिए कुछ खाने-पीने की फिक्र करता हूँ।"

कहकर हरिदास ने अपना भेष बदला और फिर वृक्षावली में छिपता छिपाता एक ओर को रवाना हुआ। प्रायः एक कोस निकल जाने

पर एक पहाड़ी के ऊपर चढ़। लोग बकरियां चरा रहे हैं और वे देवखण्ड के प्रतीत होते हैं। साधारणतः देवखण्ड के लोग यहां तक न आते थे। फलतः हरिदास को यह निश्चय होगया कि ये लोग इस बहाने से उसी की खोज मे आए हैं।

हरिदास उसी ओर चल निकला। बात निकली पी ठीक। वे सब हरिदास के ही शिष्य थे। हरिदास ने उनसे कुछ देर बातचीत की और फिर उन्हीं के लोटों में दूध निकाल कर, उसे ले वापिस रवाना होगया। आकर देखा, दिलावर खां अभी सो ही रहा था। अतः उसने फातिमा और उसकी मां को अलग हटाकर उसे जगाया और कुछ दूध पिलाकर फिर सुला दिया।

* * *

क्रमशः दिन अस्त हुआ। दिलावर खां की आंखें खुलीं। किन्तु यह क्या? उसने देखा कि उसकी पत्नी व पुत्री उसके पास बैठी हैं। देखकर पहले तो वह बड़े चक्कर में पड़ा किंतु फिर यह समझ कर कुछ शांत हुआ कि ये हरिदास से खबर पाकर आई हैं। उन दोनों ने भी दूसरी बातें छेड़दीं। इसी समय हरिदास के आदमी कुछ डोलियां ले आपहुँचे और इन लोगों को लेकर रवाना होगये।

* * *

प्रायः दो मास में देवखण्ड से सहस्त्रों रुहेले चंगे हो कर विदा हुए। दिलावर खां भी सर्वथा स्वस्थ होगया। अपनी स्त्री और लड़की के उद्धार की बात भी वह सुन ही चुका था। अतः बिदा होते समय उसने पूछा, "हरिदास जी आप के इस एहसान से रुहेलखण्ड बरी तो नहीं हो सकता, लेकिन फिर भी हम लोग आप की कुछ खिदमत कर सकें तो हमें बड़ी खुशी होगी।"

हरिदास बोले, "मेरे लिए तो आप लोग चंगे होगये, यही सबसे बड़ा इनाम है। फिर अब तो आप लोगों का दिल भी बदल गया

है। फिर हम भाई-भाई की तरह होगये हैं। इस लिए अगर आप कुछ करना चाहते हैं तो मैं यही कहूँगा कि जब आपको दूसरों से बर्त्ताव करने का काम पड़े, तब इस बर्त्ताव को ध्यान में रक्खें।

किन्तु दिलावर खां को सन्तोष नहीं हुआ। उसने कहा, "इतना ही बहुत नहीं है हरिदास जी? आज मैं देख रहा हूँ कि मैंने सिर्फ आप लोगों को ही नुक्सान नहीं पहुँचाया है, अपने मुल्क को भी बर्बाद कर दिया है और अब जब तक मैं वही हालत पैदा नहीं कर लूंगा, मुझे चैन नहीं आवेगा।" फिर बोला, "मैं समझता हूं आपको मेरा पगडी बदल भाई बनने में कोई उज्र न होगा!"

हरिदास ने कहा, "भाई तो हम वैसे भी हैं ही, लेकिन इससे आप को कुछ ज्यादह तस्कीन होती हो तो यह भी सही।"

दिलावर खां ने हरिदास से अपनी पगड़ी बदली और उसी दिन से अहद कर लिया कि "अब से रुहेलखण्ड और देवखण्ड को आजाद करना ही उसकी जिन्दगी का सबसे बड़ा मकसद होगा।"

कहना व्यर्थ है कि सारे रुहेलखण्ड और देवखण्ड ने उसकी इस प्रतिज्ञा को स्वीकार कर उसका साथ दिया। दिलावर खां भी खूब लड़ा किन्तु फिर भी परतन्त्रता की बेड़ियां टूट सकीं क्या!

नहीं! फिर सारी उमर पचकर भी दिलावर खाँ अपनी गलती को नहीं सुधार सका। अंग्रेजों और नवाब की कुटिल नीति के आगे उनके प्रयत्न बराबर विफल ही होते गये।

नवाब को इस कृति का फल न मिला हो सो भी बात नहीं है। थोड़े ही दिन बाद जिन अंग्रेजों ने उसे मदद देकर रुहेलखण्ड को बरबाद कराया था, उन्हीं अंग्रेजों ने कमजोर होने पर नवाब को गद्दी से उतार कर नवाबी पर खुद कब्ज़ा कर लिया। जिसने जैसा किया था वैसा फल पालिया।

६ "विवाह या व्यापार"

[एक सच्ची घटना]

गुलाबसिंह रोटी बना ही रहा था कि उसका काका आ पहुँचा। गुलाबसिंह ने भी, "आओ काका जी!" कहते हुए प्रणाम किया। फिर बोला, "बैठो! वह तमाखू की थैली और चिलम रक्खी है।"

मनोहरसिंह भी बैठ गया और लम्बा हाथ कर थैली एवं चिलम लेता हुआ बोला, "गुलाब ऐसे कितने दिन काम चलेगा। कहीं खेती भी अकेले आदमी से होती है!

गुलाब कुछ उदास होकर, चूल्हे में रक्खी रोटी को फिराता हुआ बोला, "तो क्या करूं काकाजी? ये लोग तो अजगर की तरह मुंह फाड़ते हैं। कोई हजार मांगता है कोई दो हजार। मैं गरीब आदमी इतने रुपये कहां से लाऊं?

मनोहरसिंह चिलम पर आग चढ़ाता हुआ बोला, "हां भाई! सब तरह गरीब की ही आफत है। आजकल तो ब्याह क्या खासा व्यापार हो गया है। भले ही ब्याह करो या कि हाथी मोल लो।

गुलाब:—और व्यापार भी सब से अधिक बड़े ही करते हैं।

मनोहरसिंह:—हां भई। बड़ों की तो बात ही निराली है। उनको तो चित्त में भी जीत और पट्ट में भी जीत। वे लड़की दें तो भी रुपये लें और लड़की लें तो भी रुपये लें।

क्षण भर दोनों चुप होगये। फिर मानों कुछ स्मरण करने की चेष्टा करते हुए मनोहरसिंह ने कहा, "मुझे तो बराबर ध्यान बना रहता है। अभी मेवाड़ में गया था तो वहाँ भी कोशिश की।"

गुलाबसिंह का मानो श्वास रुकने लगा। किन्तु मनोहरसिंह इतना ही कहकर रुक गया। गुलाबसिंह बोला, "ध्यान तो रहना ही चाहिये काकाजी ? तुम ध्यान नहीं रक्खो तो और कौन है. जो रक्खेगा। वैसे भी तुम्हारे ही हाथों कुछ होजाए तो होजाए, अन्यथा मैं तो हताश हो बैठा हूं।

मनोहरसिंह मुंह से धुआं निकालता हुआ बोला, "नहीं गुलाब! हिम्मत नहीं हारना चाहिऐ। मालिक ने चाहा तो अबकी पासा पच्चीस ही पड़ेगा।

गुलाबसिंह कुछ प्रसन्न होता हुआ बोला, "देखो काकाजी! पड जाए तो पड़ जाए। कहां कोशिश की है।"

मनोहरसिंह ने दूसरी ओर देखते हुए कुछ नीचा स्वर करके कहा, "मांडलगढ़ ?"

"मांडलगढ़ ? मेवाड़ में ?" गुलाबसिंह ने पूछा।

"हां !" मनोहरसिंह ने सिर हिलाते हुए कहा।

"लड़की के मां-बाप है ?"

"मां तो नहीं, बाप है ?"

"तब तो गृहस्थी का काम काज भी न जानती होगी !"

मनोहरसिंह बोला, खैर, इसका तो कुछ नहीं है। न जानती होगी तो यहां आकर सीख जायगी। कोई बुड्ढी तो है ही नहीं।"

गुलाबसिंह ने उत्सुकता से मनोहरसिंह की ओर देखते हुए पूछा, "क्या उम्र होगी ?"

"यही, कोई तेरह बरस की।"

गुलाबसिंह के मुंह में पानी भर आया। बोला, "क्या मांगता है ?

मनोहरसिंह बोला, "बाप तो दो हजार मांगता है।"

"दो हजार !" गुलाबसिंह की मानो सारी आशाओं पर तुषारा पात होगया।

यह देखकर मनोहरसिंह मुस्कराया। बोला, "लेकिन एक और रास्ता हैं। हां, थोड़ी जोखम तो है।"

गुलाबसिंह को फिर कुछ आशा बंधी। चूल्हे की ओर से आंखें उठाता हुआ बोला, "क्या रास्ता है ?"

मनोहरसिंह जरा आगे सरक आया। फिर धीरे से बोला, "उस के बाप के अनजान में उसके कुछ कुटुम्बी ब्याह कर देने को तैयार हैं !

"कुटुम्बी ? क्यों !" गुलाबसिंह ने कुछ आश्चर्य से पूछा।

"हां कुटुम्बी ही ? जरा धीरे बोल," मनोहरसिंह ने कहा, इसमें क्या है ? अपने तो काम से काम है ?"

गुलाबसिंह ने धीरे से कहा, "किन्तु वे ऐसा क्यों करते हैं !"

मनोहरसिंह बोला, "इसके दो तीन कारण हैं। पहला तो लोभ। मैंने उन्हें ३००) रु० देने किये हैं। दूसरे वे लड़की के बाप से जलते हैं।

"क्यों !"

"इसलिये कि उसने बीच में रुपये खाकर उनकी लड़की का विवाह एक नपुंसक जागीरदार से करा दिया था। इसीलिए वह कुछ दिन बाद एक मुसलमान के साथ भाग गई।"

"और कहीं, यह बात खुल जाये तो ?"

"हां, यह तो जोखम है ही। लेकिन है ब्याह होने तक की ही आखिर राजपूत की लड़की का दुबारा तो ब्याह होने से रहा।"

सुनकर एक बार तो गुलाबसिंह का रक्त विहीन—शुष्क मुख मंडल भी कमल की तरह खिल उठा। किन्तु दूसरे ही क्षण वह प्रसन्नता जाती

रही। उसने गम्भीर मुख-मुद्रा बनाकर कहा, "तब तो तीन सौ के अलावा साथ चलने वालों को भी कुछ देना पड़ेगा!"

मनोहरसिंह ने भी चिन्ता दिखाते हुए कहा, "हां बिना लालच तो कौन ऐसी जोखम में हिस्सा लेगा! कम से कम २००) रु० और समझलो। कुल ५००) रुपये में सौदा पार पड़ेगा।"

"किन्तु यह तो घर, जमीन, पशु-सब को बट्टे लगाऊं तब हो! आप जानते ही हो, घर में तो कानी कौड़ी भी नहीं है।"

मनोहरसिंह बोला, "हां सो तो सब जानता हूँ। किन्तु आखिर घर तो बांधना ही है। यह भी नहीं होसकता कि हल्के कहे जाने वालों में ब्याह करलो। ऐसा करो तो कल ही जात बाहर होना पड़े।"

गुलाबसिंह एक दीर्घ निःश्वास छोड़कर बोला, "हां सो तो है हीं। जात भी गरीब को ही मारती है। बड़े सबकी लड़की ले लेते हैं, सबका और सब कुछ खाते-पीते हैं, फिर भी उन्हें कोई कुछ नहीं कहता! किंतु यह तो घर फूंक तमाशा देखना है?"

मनोहरसिंह कुछ हिम्मत बंधाता हुआ बोला, "अरे भली चिन्ता की। रुपये लगेंगे तो औरत भी कैसी मिलेगी? हूर की सी बच्ची! बारह बरस की। और घर का क्या? घर तो घरवाली से है। सब धीरे २ ठीक होजायेगा।"

गुलाबसिंह ने भी सोचा, "ठीक है। यों भी कहां तक काम चलेगा आखिर ब्याह किये बिना तो काम चलना नहीं, और ब्याह रुपये खर्च किये बिना हो सकता नहीं। रहा, लड़की के बापसे छिपाकर ब्याह करना, सो जब ये लोग लड़कियों को नीलाम करते हैं, तो अपने को भी चाहे जिस प्रकार उन्हें प्राप्त करने का अधिकार है।

* * *

(२)

कहना व्यर्थ है कि गुलाबसिंह राजपूत था घराने से कुलीन था। कई बड़ी बड़ी जागीरों में उसकी पुरानी रिश्तेदारियां थीं। किन्तु कुछ समय से भाग्य लक्ष्मी रूठ गई थी। इसका कारण भी यह लड़कियों का व्यापार था। राजपूतों में जाति की छुटाई बड़ाई सम्पति पर निर्भर है। आचरण में रावण का गुरु भी सम्पति की बदौलत देवता बन जाता है और धनहीन बृहस्पति के समान गुणज्ञ होने पर भी हल्का गिना जाता है। इसीलिए बड़े गरीबों को लड़की नहीं देते और छोटे बड़ों के यहां रिश्तेदारी करने को पचते हैं। किन्तु बोझ दोनों अवस्थाओं का छोटे कहे जाने वाले राजपूतों पर ही पड़ता है। वे लड़की देना चाहें तो भी मुंह मांगी रकम देनी पडती है और लेना चाहे तो भी। जो इस बोझ को उठाने में असमर्थ होकर पुनर्विवाह या हल्के कहे जाने वालों में विवाह करने लगते हैं, वे ही अकुलीन गिन लिये जाते हैं।

इसी प्रथा का आखेट गुलाबसिंह का घर बना था। गुलाबसिंह की तीन बहने थी। इनमें से दो को तो उसके पिता ने इसी आपत्ति के भय से जन्म होते ही परम धाम पहुँचा दिया था, किन्तु तीसरी बच गई थी। उसे उसकी माता ने नहीं मारने दिया था। उधर दैव योग से घर में निरन्तर दुष्काल पड़ने से धन भी संग्रह नहीं होसका। फल यह हुआ कि उसका विवाह करने में गुलाबसिंह का भरा भराया घर खाली होगया।

फिर व्याह के बाद ही माता-पिता मर गये और इसलिए रहे सहे पशु आदि बेच उनका मूल्य गुलाबसिंह को उनके ब्रह्म-भोज एवम् श्राद्धादि में लगा देना पड़ा इसीलिए अब गुलाबसिंह अकेला तो था ही, उसे पीसना-पोना भी हाथों से पड़ता था इससे उसे हानि भी होती थी। जिस समय खेत को छोड़कर एक मिनट भी नहीं जाना चाहिए, उस समय भी उसे पीसने-पोने के लिये आना ही पडता था और तब जंगली जानवर एवं चोर उसके खेतों को उजाड़ कर जाते थे।

एक और आफत थी। उसका घर ग्राम के बीच में था और उसके चौक में एक नीम था। अतः वह तो खेत पर चला जाता, पीछे से सारे ग्राम के शैतान लड़के उसके चौक पर अधिकार जमा लेते। वह स्वाभाविक भी था। कारण प्रथम तो वह दिन भर सूना रहता था, दूसरे उसमें छाया थी। नीम से लड़के छाया में ही बैठने का काम नहीं लेते थे, "कुलाम लाकड़ी" आदि खेलने का भी लेते थे। जो ऐसे खेल न खेल सकते थे, वे दूसरे खेल खेलते थे। कोई मिट्टी इकट्ठी कर उसके खिलौने बनाता था, कोई हल-बैल बनाता था कोई गोबर से दीवार पर चित्र बनाता था, कोई घास जमा कर खेत का रूपक तैयार करता था। परिणामतः जब संध्या समय गुलाबसिंह घर आता तो उसे चौक में मन भर मलवा इकट्ठा मिलता। कुछ कह भी न सकता था। कहता तो लोग कहते, हमारे बच्चों को देख नहीं सकता। इकलखुरा है। जलता है।

इन सब कारणों से उसे न केवल अपने एकाकी जीवन को सरस बनाने और इस दुःख में भी थोड़ी सी सुख-सुरसरी बहाने के लिए, प्रत्युत कृषि और गृह की रक्षा के लिए भी स्त्री की आवश्यकता सतत प्रतीत होती थी। किन्तु साथ ही स्त्री का स्मरण आते ही रुपये की समस्या सामने आ खड़ी होती थी। अपने घर की बरबादी का चित्र आँखों के सामने खिंच जाता

अनेक बार वह सोचता था कि किस मूर्ख ने अन्तर्जातीय विवाह न करने का नियम बनाया था? किसने लड़कियों को बेचने की प्रथा चलाई थी? किसने यह नियम प्रचलित किया था कि लड़की और लड़के अपने विवाह संबंध तय करने में कुछ भी भाग न लें? अवश्य ही इन बातों को प्रचलित करने वाले मनुष्य जाति के घोर शत्रु रहे होंगे! यदि ये बातें न होतीं तो क्यों आज लाखों को स्त्री प्राप्त करने के लिए पापों में प्रवृत्त होना पड़ता और क्यों लाखों के घर बर्बाद होते? क्यों लड़की-लड़कों वालों को मुंह मांगी शर्तें पूरी करनी पड़ती और क्यों

अपनी बालिकाओं के रक्त से अपनी ही उंगलियां भिगोनी पड़ती ? यदि जाति में लड़की न मिलती तो लोग दूसरी जाति में विवाह कर लेते और यदि विवाह के बदले में आजन्म दारिद्रय पल्ले बंधता होता तो वर-वधू स्वयं ऐसा विवाह करने से इकार कर देते। न कोई लड़कियों को मारता न कोई उनका व्यापार कर सकता। न जाति जाति में इतनी परकीयता फैलती न विवाह के फल स्वरूप घर घर में दरिद्रता खेलती।

* * *

(२)

एक दिन किसी बहाने, एक दूसरे ग्राम में जाकर उस लड़की का विवाह गुलाबसिंह के साथ कर दिया गया। गुलाबसिंह भी उसे लेकर सकुशल घर लौट आया। किन्तु साथ ही उसका घर चौपट होगया। न घर में कोई पशु रहा न जंगल में कोई खेत। इधर लड़की के बाप को इस षड़यंत्र का पता लगा तो वह आपे से बाहर होगया। जाति वालों ने बहुत कुछ समझाया। समझौता कर लेने की सलाह दी। बदनामी का भय दिखाया। पर सब व्यर्थ। बुड्ढा न माना। मानता भी कैसे ? उसने इस लड़की पर न जाने कितनी आशायें बांध रक्खी थीं। इसी के भरोसे कितना ही ऋण सिर कर लिया था। इतना बड़ा धक्का वह कैसे सहन कर सकता था। उसने अदालत में दावा किया और विवाह में भाग लेने वाले सब लोगों के विरुद्ध वारन्ट जारी करा दिये।

गुलाबसिंह बड़ा भयभीत हुआ। गिरफ्तार होने की दशा में स्त्री का छिन जाना निश्चित था। घर तो बर्बाद हो ही गया था। "छनूकड़ी" के भी चले जाने से, धोबी का कुत्ता घर का न घाट का—वाली मसल हो जाती। कुछ मित्रों ने घर पर अधिकार करने का अवसर पाने के लिए उसे भागने की ही सलाह दी। फलतः वह अहमदाबाद भाग गया। सौभाग्य से उसे जाते ही मजदूरी में एक जगह भी मिल गई और इसलिए ज्यों त्यों गुजर चलने लगी।

किन्तु गुलाबसिंह के दुर्भाग्य से उसकी पत्नी का स्वभाव सर्वथा उसकी प्रकृति के विपरीत निकला। निकलता भी क्यों नहीं! वह गुलाबसिंह की अपेक्षा सम्पन्न घराने की तो थी ही, उसका पालन पोषण भी दूसरे ही प्रकार के वायुमण्डल में हुआ था। उसका पीहर छोटा ग्राम नहीं, एक खासा कस्बा था। उसमें अनेक जाति और धर्मों के लोग रहते थे। कई बड़े कहलाने वाले लोग थे और इसलिए दास—दासियों का खासा जमघट था। उसके पिता के पास दासियों की कमी न थी। एकाध तो सतत ही बनी रहती थी। कारण वे पत्नी विहीन थे और इसलिये उनका गृह कार्य दासियाँ ही करती थीं। और दासियों को देशी राज्यों और जागीरों में व्यभिचारिणी तो बल-पूर्वक बनाया ही जाता था अपना शिकार सरलता से बनाने को दुर्व्यसनी भी बना दिया जाता था। दरिद्र के लिए व्यसन ही सब से बड़ा फंदा है। प्रलोभन से चाहे मनुष्य थोड़ी देर के लिए अपने को बचा सके, भय से चाहे कोई वश में न आवे, व्यसन के सम्मुख वह विवश होजाता है। अफीमची एक दिन भोजन के बिना रह सकता है, अफीम के बिना नहीं रह सकता।

फिर गुलाबसिंह की पत्नी तो खुद भी व्यसनी थी। मातृ विहीन होने के कारण दिनरात उसे ऐसी स्त्रियों के संसर्ग में रहना पड़ा उसे नित्य मदिरा भी मिल जाती थी। उसके पिता "भले मानुस" थे और इससिये उसे जल्दी सुला देने को मदिरा पिला देते थे। अतः ज्यों ज्यों दिन बीतने लगे और संकोच दूर होने लगा, त्यों त्यों उसके ये संस्कार भी बल पकड़ने लगे। बचत होना तो दूर, एक महीने से दूसरा महीना पकड़ना कठिन होने लगा। होता भी क्यों नही! बीबी जी ठकुरानी थीं, इसलिए हाथ से काम करना तो पाप समझती ही थीं, घर से बाहर भी न निकलती थीं। शराब के बिना भी न रह सकती थीं। शृंगार साधनों की आवश्यकता होती थी सो अलग। इतना ही नहीं, पानी भी गुलाब-सिंह स्वयम् काम पर से लौट कर भरता। साग-पात लकड़ी जो कुछ लाना होता, वह भी वही लाता। पत्नी जी केवल मोटी झोटी रोटी बना

देतीं। वह भी कितनी ही बक झक के साथ।

गुलाबसिंह को अनेक बार इन बातों पर झुंझलाहट आती। वह सोचता, "विवाह किया था आराम पाने के लिए, और पल्ले पड़ी यह आफत। गए थे नमाज छुड़ाने, रोजे और गले पड़ गये।" क्रोध आने की बात भी थी। उसने अपने दृष्टि बिन्दु से उसके लिए किया भी क्या न था! क्या नहीं खोया था! क्या नहीं सहा था! उसी के लिए वह सारे कृषि साधन और भूमि गिरवी रख कर फ़कीर बना था। उसी के लिए घर छोड़ "विदेश" में पड़ा था। उसी के लिए मजदूरी करता था। किन्तु स्त्री को इन बातों का कुछ ध्यान ही न था। वह इस प्रेम और त्याग की कदर करनी तो दूर, उल्टी समय-समय पर खरी खोटी सुना देती थी। यदि गुलाबसिंह कभी इन बातों का स्मरण दिलाता तो कह देती, "तुमने सहा है तो अपनी लिप्सा के लिए सहा है। इसका मैं क्या करूं? मेरा तो उल्टा भाग्य फूट गया। किसी अच्छे घर में जाती तो आराम से तो रहती?"

गुलाबसिंह भी चुप रह जाता। बहुत करता तो मन ही मन उसके बाप को और बड़े लोगों को गालियां दे लेता। कहता, "समाज का सत्यानाश करने वाले ये ही लोग हैं। इन्हें और तो कुछ काम है नहीं, अपने लड़की-लड़कों को ही बिगाड़ते हैं। उन्हें पर्दा सिखाते हैं। नशा कराते हैं। दूसरों की कमाई पर जीना सिखाते हैं। कमाना एक कौड़ी नहीं सिखाते, हां खर्च उनका दस व्यक्तियों के बराबर बढ़ा देते हैं।"

हां कभी-कभी वास्तविकता का विचार आने पर लज्जित भी होता था। सोचता था, "मैं ही कौनसा दूध का धुला हूँ? सच तो कहती है। प्रेम तो कोई लूट-मार और सौदे की वस्तु नहीं है। वह तो हृदय की वस्तु है। प्रसन्नता से ही दी ली जासकती है। और मैंने या और किसी ने कब विवाह से पहले इसके मनोभाव जानने की चेष्टा की थी? कब इसका प्रेम प्राप्त करने का प्रयत्न किया था! उन्होंने पशु की तरह

मुझे बेचदी और मैं घर ले आया। ऐसी अवस्था में मैं किस आधार पर यह चाह सकता हूँ कि वह पतिभक्त रहे ? मेरी कठिनाईयों का ध्यान रक्खे ? और दूसरे दोषों का भी यह क्या करे ! इसे तो जो बातें बचपन से सिखाई गईं, वे ही इसने सीखी हैं। वैसा ही आचरण करती है ?" किन्तु मनुष्य अपने दोषों की आलोचना बहुत कम करता है। अधिकतर तो अपनी बुराईयों के कारण भी वह दूसरों ही के आचरण में ढूंढा करता है। अतः ये विचार भी क्षणिक ही होते थे। कुछ देर बाद उसके हृदय में फिर वही, पुरुष-जाति की चिरभ्यस्त स्वेच्छाचारी भावना जागृत हो उटती थी और वह उसके दुराग्रह पर कुड़बुडाने लगता था। किन्तु जैसा कि कहा जा चुका है, इस कुड़बड़ाहट का फल कुछ न होता था।

(४)

धीरे धीरे अवस्था यहां तक बिगडी कि गुलाबसिंह के लिये घर सर्प का बिल हो पड़ा। प्रेम सम्भाषण तो दूर, अब कभी दोनों में सीधी बातें भी न होतीं। जब देखो तब ठकुरानी का पारा चढ़ा ही मिलता। हर बात का उत्तर लट्ठ मार मिलता। वह कहता "सत्युग की लड़कियां ऐसी होती थीं कि अन्धे के साथ कर दी जाती तो भी उसे ईश्वर तुल्य मानतीं ?"

पत्नी उत्तर देती, " तो सत्युग के माता-पिता कैसे होते थे ? भरतार कैसे होते थे ?"

यही नहीं, कभी वह न बोलता तो पत्नी अकेली ही बैठी बैठी व्यंग बाण छोडा करती। कहतीं, "जब घर में भुनी भांग नहीं थी तो ब्याह करने को क्यों बतावले हुए थे ! अपने साथ मुझे क्यों डुबोया था !"

गुलाबसिंह घर में जाता तो था, किन्तु डरता हुआ। कान बन्द करके जल्दी जल्दी अपना काम कर फिर बाहर भाग आता और फिर

सोने के समय ही भीतर प्रवेश करता। किन्तु ऐसी अवस्था कितने दिन निभ सकती ? गुलाबसिंह को भी वह असहय हो पड़ी और उसने इससे पीछा छुड़ाने को नशे बाजी का आश्रय ग्रहण किया। अधिक व्यय तो वह कर न सकता था, ज्यों त्यों कर एक दो पैसे रोज उठा सकता था। और इतना सस्ता नशा उसे भंग का ही दिखाई दिया। भाग्य से उसे एक जोडीदार भी मिल गया। वह भँगेड़ी ही नहीं गंजेडी भी था। फलतः गुलाबसिंह भी गांजे का अभ्यास्त होगया और इसलिये जहां एक ओर नशे का व्यय बढ़ने लगा, वहां दूसरी ओर खाने पीने में कोर कसर करने से उसका स्वास्थ्य गिरने लगा। हां, नशे की बेहोशी के कारण उसे गृह कलह जन्य चिन्ताओं से अवश्य कुछ छुटकारा मिल जाता था।

ऐसे ही समय गुलाबसिंह को एक कन्यारत्न की प्राप्ति हुई। देखकर गुलाबसिंह का माथा ठनका। एक इच्छा तो हुई कि उसे सुरधाम पहुँचा दे। किन्तु पत्नी से विरोधा भाव था, इसीलिए डरा। फिर उसे कुछ प्रसन्नता भी हुई। उसने सोचा, अब सन्तान होजाने से यह कुछ सध जायेगी इतनी तुंद न रहेगी। किन्तु इस प्रसन्नता के साथ ही व्यय की चिन्ता भी बढ़ी। घर में फूटी कौड़ी भी न थी और जच्चा के लिए तो विशेष पथ्य चाहिये हीं।

लाचार एक पड़ौसी से दो रुपये उधार लिए और आवश्यक सामग्री लाया। पड़ौसी ने भी केवल रुपये ही उधार नहीं दिये, और भी सब प्रकार से सहायता देनी प्रारम्भ की। वह अनेक बार गुलाबसिंह के यहाँ पानी भर आता। अनेक बार शाक-भाजी आदि ला देता। कभी कोई वस्तु मुफ्त भी देजाता। यह देखकर गुलाबसिंह उसके आभार से दब सा गया और उसपर विशेष ममत्व रखने लगा।

किन्तु कलि-काल में ऐसी मित्रता का सौदा प्रायः मंहगा पड़ जाता है। यहां भी यही हुआ। इन कृपाओं की बदौलत गुलाबसिंह की पत्नी पड़ौसी की ओर आकर्षित होने लगी। पड़ौसी भी विशेष सहानुभूति

दिखाने लगा। कम से कम मदिरा का अब तोड़ा न रहता था। इतना ही नहीं, क्रमशः वह काम पर से भी अनुपस्थित रहने लगा। गुलाबसिंह को भी सन्देह हुआ, किन्तु प्रत्यक्ष प्रमाण कुछ न था। उधर काम छोड़ने का साहस न होता था। गरीब को पैसा भी मुहर के बराबर होता है। फिर भी कटुता बढ़ने लगी। फलतः प्रायः दोनों में खट-पट होजाती। कभी कभी तो चूल्हा तक न जलता।

गुलाबसिंह की पत्नी को भी यह अवस्था असह्य हो पड़ी। वह कामान्ध तो हो ही रही थी, गुलाबसिंह के प्रति अपना कोई कर्त्तव्य भी न समझती थी। इधर गुलाबसिंह की नशेबाजी और तज्जन्य अस्वस्थता ने उसकी घृणा को और भी बढ़ा दिया था। फिर भला वह ऐसी बातों को क्यों सहन करने लगी? फिर भी गुलाबसिंह को छोडकर चल देने का साहस उसे न होता था। कारण वह उसकी विवाहिता पत्नी नहीं है, यह प्रमाणित करने का कोई साधन नहीं था। हां, छिपकर वह भाग सकती थी, किन्तु साथ ही उसके फिर पकड़े जाने का डर था। और फिर पकड़ी जाने पर न जाने क्या हो? गुलाबसिंह देहाती था। सम्भव था फिर मार ही डाले या नाक काटले।

अन्त में उसने पड़ौसी से बात की। पड़ौसी बोला, तुम्हारी आशंकायें ठीक है। यदि भागना हो तो इसका काम तमाम करके ही भागना चाहिए। आखिर यही निश्चय हुआ। भागकर जाने, छिपने आदि के स्थान भी निश्चय होगए। केवल एक कठिनाई रह गई। प्रेमी को गुलाबसिंह का भय बना हुआ था।" इस प्रश्न का समाधान अभी तक न होसकता था। किन्तु पत्नी ने इसका भी उपाय निकाल लिया। रोटी में कुछ धतूरे के बीज मिला दिये गये, भंग ने और भी सहायता पहुँचाई। उस के नशे में वह धतूरे के बीजों की कटुता सर्वथा अनुभव न कर सका।

* * *

प्रातः काल सब मजदूर कारखानों की ओर जारहे थे। सबने कारखानों मे काम करने के मैले कुचैले कपड़े पहन रक्खे थे। ऐसा प्रतीत होता था, मानों रात भागती भागती उन के कपड़ों से मुंह पोंछ गई हैं। एक चुलबुला लड़का खड़ा खड़ा यह दृश्य देख रहा था। उससे न रहा गया, हंस २ कर कहने लगा :—

हाथ काले, मुंह काले।
ये आए हुए कारखाने वाले॥

सुनकर एक मजदूर लड़के को पकड़ने को दौड़ा। लड़का भी भागा। मजदूरों को भी चुहल सूझी। सब पकड़ो पकड़ो करके उसके पीछे भागने लगे। लड़का घबड़ा गया और गुलाबसिंह के घर में छिपने को झपटा। उसने जोर से किवाड में धक्का मारा।

किन्तु यह क्या। धक्का मारते ही दरवाजा खुल गया और लोगों ने देखा कि गुलाबसिंह चौक में खून से लथ-पथ मरा पड़ा है। वे सिट्टी पिट्टी भूल गये। दूसरे मजदूरों की भी भीड़ लग गई।

किसी ने पुलिस में भी इत्तला करदी। थानेदार बिस्तर में से उठकर आया ही था। आते ही खून की खबर सुनी तो रिपोर्ट करने वाले को पचास गालियां सुनाई। फिर तीन बार लाहौल पढ़ी और भन्नाता हुआ घटनास्थल की ओर चला। मजदूर भी यह देखकर खिसकने लगे।

किन्तु होना जाना क्या था! जांच पूछ करके पुलिस ने लाश जलवादी। हां, लड़की जीवित थी। उसके लिए कुछ चिन्ता हुई। लेकिन इस चिन्ता से मुक्त करने वाला भी एक माई का लाल मिल गया। पुरुषोत्तम नामक एक महाजन ने उसे पालना स्वीकार कर लिया और पुलिस ने वह लड़की उसके सिपुर्द करदी।

(५)

पुरुषोत्तम धुंधुका का रहने वाला था। आर्थिक स्थिति अच्छी थी। हां, उसके कोई संतान न थी। सम्भव है पहले वह इसीलिए उक्त लड़की को ले आया हो। किन्तु यह न हो तो भी लड़की में कुछ विशेषतायें थीं। वह अद्वितीय सुन्दरी थी। उसे देख कर कोई भी यह न कह सकता था कि वह किसी मजदूर या गरीब की लड़की है। फिर वह स्वभाव की बड़ी मस्त थी। रोना तो मानों वह जानती ही न थी। हर समय हंसती खेलती दिखाई देती थी। हरेक से हिल मिल जाती थी। इसका फल भी उसके लिए अच्छा हुआ। वह जाते ही सर्व प्रिय हो पड़ी। उसे लाड लड़ाने में पुरुषोत्तम के कुटुम्बी एक प्रकार का विशेष आनन्द अनुभव करने लगे। यहां तक कि प्रत्येक उसे अपने बालक की तरह चाहने लगा। संक्षेप में कहें तो वह सब की हृदय-मणि थी और कदाचित् इसीलिए उसका नाम भी "मणिबाई" रक्खा दिया गया।

किन्तु ज्यों ज्यों मणि की आयु बढ़ने लगी त्यों त्यों अभिभावक लोगों के भाव भी बदलने लगे। वह लाड़ के स्थान पर लोभ की वस्तु बनने लगी। उसके रूप और सौंदर्य की चर्चा दूर २ तक फैल चुकी थी और इसलिए कामी भ्रमरगण ने अभी से पुरुषोत्तम की दूकान पर चक्कर काटने प्रारम्भ कर दिये थे। इनमें कितने ही बाल-विवाह की सन्तान थे, कितने ही वृद्ध-विवाह की कितने ही लकड़ी का सहारा लेकर उठते थे, कितने ही चौथे दिन खिजाब करते थे। फिर भी सब अपने को दसवर्षीय मणि के योग्य समझते थे। समझते भी क्यों नहीं? लडकियों के रूप और गुणों का मूल्य है धन वैभव और धन-वैभव की उनके यहां कमी न थी। शरीर से वे भले ही निर्बल हों, धन बल में तो रावण से कुश्ती कर सकते थे।

मणि भी अब कुछ समझने लग गई थी। किन्तु उसे यह अब भी ज्ञात न था कि वह पुरुषोत्तम की लड़की नहीं है।

अकस्मात् एक दिन संध्या के समय वह ऊपर के कमरे के सामने से होकर निकल रही थी कि उसने भीतर किसी को अपना नाम लेते सुना। हठात् मानों उसके पैरों को किसी ने बांध दिया। वह रुक गई और दीवार से लग कर बातें सुनने लगी। बातें वास्तव में उसी के सम्बन्ध में हो रही थीं। बातें करने वाले थे पुरुषोत्तम और उसकी पत्नी। मणि दम साध कर खड़ी होगई।

पुरुषोत्तम की पत्नी ने कहा, "अभी तो वह नौ ही बरस की है अभी क्या जल्दी है!"

पुरुषोत्तम बोला, "सो तो ठीक है, किन्तु अधिक बड़ी होने पर न जाने क्या हो!"

"क्यों? बड़ी होने पर और क्या होगा?"

"क्यों? यह तो तुम जानती ही हो कि वह अपनी लड़की नहीं है?"

"हां, सो तो जानती हूँ!"

"तो मान लो कि उसे यह मालूम होजाए। या कोई उसका सम्बन्धी आकर उसे लेजाना चाहे?"

सेठानी बोली, "ऊंह? अब उसके कौन बैठा है? और हो तो कहना हमारा खर्च लाओ! फिर अपने आप चुप हो रहेगा!"

पुरुषोत्तम बोला, "क्यों! चुप क्यों हो रहेगा। लड़की के रूप को देखते तो उसे खर्च देने पर भी फायदा ही रहेगा। ऐसी हालत में हम क्यों अपना नुक्सान करें?"

सुनकर सेठानी भी कुछ विचार मग्न हुई। फिर बोली, "क्या मिलता है!"

सेठ:—पांच हजार मिलते हैं।"

"कौन देता है !"

"जगजीवनराम"

सेठानी के मस्तक पर सल पड़ गये कुछ जोर से बोली, "जग-जीवनराम ! उससे तो बैठने के बाद उठा ही नहीं जाता, उसे देकर तो लड़की का भाग्य फोड़ना है ?"

पुरुषोत्तम बोला, "इसमें क्या भाग्य फूटता है ? आज सैकड़ों ऐसे विवाह होते हैं ।"

किन्तु सेठानी का हृदय न माना । आखिर स्त्री थी । उसने मणि को अपनी लड़की की तरह पाला था । बोली, "यह तो बड़ा अनर्थ है ।"

पुरुषोत्तम बोला, "कोई अनर्थ नहीं है । मालदार का घर है उल्टी मौज करेगी । फिर ऐसा न करें तो और इतनी रकम भी कौन देगा ?

इसका उत्तर सेठानी के पास भी न था ।

* * *

अब मणि को मालूम हुआ कि वह पुरुषोत्तम की लड़की नहीं, पोष्य पुत्री मात्र है । किन्तु वह किसकी लड़की है, यह उसे फिर भी ज्ञात नहीं हो सका ? होता भी कैसे ? न तो उसे स्वयं किसी से पूछने का साहस होता था न कोई उससे आगे होकर कहता था ? उधर विवाह की तैयारियां होने लगी । मणि को यह बुरा लगा । बुरा लगना उचित भी था । और चाहे वह कुछ न समझती हो, उपरोक्त घटना से यह तो समझ ही गई थी कि यह विवाह उसके हित के लिए नहीं, रुपये के लिए किया जा रहा था । किन्तु विवश थी, वह क्या करे । यह उसे न सूझता था ।

अन्त में उसका यह असमंजस बना ही रहा और विवाह होगया । इच्छा न होते भी उसे इस व्यापार को विवाह मान ही लेना पड़ा ।

विवाह में भी कुछ विशेष धूमधाम नहीं हुई। वर राजा अपने दस-बीस मित्रों को लेकर आगए और एक ग्रामीण ब्राह्मण ने "अमरकोष" के श्लोकों से फेरे डलवा दिये। मणि इस दृश्य को तमाशे की दृष्टि से देखती रही पुरुषोत्तम सौदे की दृष्टि से और वर पक्षीय लोग मनोरंजन की दृष्टि से। बस होगया विवाह।

(६)

* * *

किन्तु सौभाग्य या दुर्भाग्य से यह टूटा-फूटा सुहाग भी अचल नहीं रहा। ज्यों ही मणि को गृहस्थ जीवन की बातों का कुछ कुछ ज्ञान होने लगा, त्यों ही उसकी १४ वर्ष की आयु पूरी होते न होते पति देव इस दुनियां से चल बसे। मणि विधवा होगयी। कुटुम्बियों ने उसकी चूड़ियां फोड़ डाली और आभूषणादि छीन कर ताले में बन्द कर दिये। मणि को भी पति का मरना तो उस समय इतना न खटका, हाँ, आभूषणादि छिनना जरूर बुरा लगा। इसके लिए वह कई दिन रोती रही।

लेकिन दुर्दिनों का यही अन्त नहीं हुआ। विधवा होते ही वह सब की उपेक्षा पात्र तो बनी ही नए नए अपमान जनक बधनों में भी जकड़ी जाने लगी। वह अच्छे कपड़े नहीं पहन सकती थी, हंसना और गाना उसके लिये जुर्म मान लिया गया। यही नहीं, वह प्रातः जल्दी उठती तो भी कोठड़ी से बाहर न निकल पाती। एक दिन भूल से वह जल्दी बाहर निकल आई और उठते ही अपनी ननद को मुख दिखा दिया, तो दिन भर घर में कलह मचा रहा। सैकड़ों गालियां खानी पड़ीं दो चार डन्डे भी पड़े। यद्यपि उसकी समझ में इसका कोई उचित कारण नहीं आया, तथापि उसे इस विधान के सामने सिर झुकाना पड़ा। और करती भी क्या?

किन्तु भय से सच्चा अनुशासन पैदा नहीं होता। उससे तो उल्टी जिस बात को रोका जाता है उसे करने की इच्छा और बलवती होती है। ऊपर से भले ही निर्बल शांत होजाए, मन में तो विद्रोह की लहरें उठती

रहती है। यही बात मणि के सम्बन्ध में हुई। वह भी ऊपर से सब कुछ सहकर मन में विद्रोह भाव का पोषण करती रही और वह ज्यों ज्यों अवसर मिलने लगा त्यों त्यों अपना प्रभाव दिखाने लगा। ज्यों ज्यों यौवन का ज्वार और रूप का अभिमान जागृत होने लगा त्यों त्यों मणि की सहिष्णुता कम हो चली।

अब वह इसे अत्याचार और अपमान जनक व्यवहार समझने लगी। वह अनेक बार सोचती "मैं विधवा होगई तो इसमें मेरा दोष? दोष है तो समाज का। फिर मैं इस दण्ड की पात्र क्यों?" दूसरी स्त्रियां कहतीं कि यह पातिव्रत हैं तो वह हंस देती। कहती, "यदि यही पातिव्रत है तो इसे दूर से ही नमस्कार!" यही क्यों, पातिव्रत शब्द धीरे धीरे उसके लिए एक घृणास्पद वस्तु बन गया।

इधर कस्बे के लोगों के व्यवहारों और वायुमण्डल ने घृताहुति का काम किया। वह पढी लिखी तो थी ही नहीं, कुटुम्ब की स्त्रियों में भी सच्चे धार्मिक भावों का अभाव था। वैसे वे प्रायः प्रत्येक व्रत और उत्सव धूमधाम से मनाती थीं, किन्तु रूढ़ी पालन के तौर पर। इसीलिए वहा सच्चे भक्ति-भाव के दर्शन न होते थे। इन अवसरों पर स्त्रियां खूब बनाव श्रृंगार करतीं। फूहड़ दिल्लगीं करतीं। सारे कस्बे की कहानी कहतीं और साथ ही मणि को जान-बूझ कर इन बातों से दूर रखतीं। अतः स्वभावतः ही ये बातें मणि के विकारों को उत्तेजना देतीं।

बाहर की अवस्था तो और भी भीषण थीं। मणि जिधर निकलती उधर ही लोग गृद्ध की तरह उसपर दृष्टि गड़ाने लगते थे। कोई कुछ कहता और कोई कुछ। कोई उससे बातें करने को बहाना निकाल कर मार्ग में खड़ा हो जाता था, कोई उसके पानी भरने के समय स्नान करने जाता था. कोई उसे सुनाकर उसके रूप की प्रशंसा करता था, कोई उसे स्वर्गीय सुखों की पात्र बता उसके वर्तमान जीवन को कोसता था। इन सब बातों का प्रभाव मणि जैसी समाज के अत्याचारों की आखेट बनी

हुई लड़की के मन पर क्या होता होगा इसका अनुमान सरलता से किया जा सकता है।

फिर मणि को बाहर जाने आने का अवकाश भी खूब मिलता था। कारण कुटुम्बियों को घृणा उसकी सूरत से ही थी, कामों से नहीं। काम प्रायः उससे दिन भर सब प्रकार का लिया जाता था। प्रत्येक उसे आज्ञा देना अपना अधिकार मानता था। भेड़ बनने वाली को और बर्ताव मिले भी कहां से!

(७)

क्रमशः यह अवस्था मणि को असह्य हो चली। उसने सोचा, "जब इनकी दृष्टि में मैं इतनी हेय हूँ कि पुनर्विवाह करने वाली निम्न जातीय स्त्रियों से भी बुरे व्यवहार की पात्र समझी जाती हूँ तो मैं ही क्यों इनकी कुल-कान का इतना विचार रखूं? किस लिए अपनी सारी आकांक्षाओं को बलि चढ़ाऊं? आखिर विवाह मेरी इच्छानुसार या मेरे हित की दृष्टि से तो किया ही न गया था! मैंने तो कोई प्रतिज्ञा की ही न थी। धन के लिए हुआ था और धन उनको मिल गया। फिर मैं क्या पशु हूँ जो अपने को बिकी हुई मान लूं!" ऐसी अवस्था में बहुत संभव था कि वह इन उत्तेजना प्रवाहों में वह जाती। किन्तु एक बात ने उसे कुछ समय तक रोक रक्खा। वह बात थी, उसमें पुरुषों के प्रति अविश्वास और घृणा। पुरुषोत्तम के व्यवहार और कुटुम्बियों के अत्याचारों ने उसके हृदय में एक प्रकार का घृणा-युक्त भय पैदा कर दिया था। वह समझती थी कि प्रेम, धर्म, पातिव्रत आदि शब्द धोखे की टट्टी मात्र हैं। वास्तव में संसार विषय वासनाओं का दास है। इसीलिए वह प्रायः सब पुरुषों को स्वार्थी मानने लग गई थी और हर किसी की प्रेम की बातों में किसी न किसी षड़यन्त्र की छाया देखा करती थी। वह डरती थी कि कहीं कोई उसे बहका फुसला कर दूसरी जगह बेच न दे अथवा रूप यौवन नष्ट होने पर ठुकरा न दे। इन विचारों में बहुत कुछ सचाई भी थी और कहना व्यर्थ है कि इसीलिए उसकी बहुत

सी बुराइयों से रक्षा भी होगई। इसी कारण वह बड़े बड़े किन्तु झूठे प्रलोभनों को ठुकराकर गुण्डो के पाश से बचती रही।

* * *

सहसा एक युवक ने उसका ध्यान अपनी ओर विशेष रूप से आकर्षित करना प्रारम्भ किया। यह एक ब्राह्मण युवा था। नाम था नानालाल। वह न तो कुछ अधिक पढ़ा लिखा ही था न धनाढ्य ही। केवल गुजराती लिख पढ लेता था और सम्पत्ति के नाम पर केवल एक छोटा सा मकान था। जीवन निर्वाह के लिए एक सेठ की दूकान पर काम करता था। किन्तु वेतन इतना ही मिलता था, कि वह अकेला सादा जीवन विता सके।

लेकिन उसमें कई अमूल्य गुण थे। गरीब होने पर भी वह इतना ईमानदार था कि उसके सेठ उसे हजारों की रकम पटाने अकेला ही भेज देते थे। सुशील इतना था कि कभी किसी से लड़ाई-झगड़ा करते उसे किसी ने नहीं देखा। दुश्चरित्रता तो मानो उसके स्वभाव में ही न थी। युवा होने पर भी उसे युवकोचित अविचार-शीलता दिखाते कदाचित् ही किसी ने देखा था। इसीलिए सारे कस्बे में उसकी पैठ जमी हुई थी। वह सबके घर बेरोक-टोक जा सकता था। सब उससे प्रेम से मिलते-बात करते थे।

मणि से तो प्रायः उसका मिलने का काम पड़ ही जाता था। अनेक बार वही उसको पानी के घड़े आदि उठाने में सहायता देता था। किन्तु न तो कभी अन्य व्यक्तियों की तरह वह मणि से हंसी दिल्लगी करता था, न कभी अपने मन में उसके प्रति पाप बुद्धि को स्थान देता था। यह भी बात न थी कि मणि के सौंदर्य का उस पर प्रभाव न होता हो। अनेक बार वह एक अदम्य आकर्षण का अनुभव करता था, किन्तु वह अपने को सम्हाल लेता था। कम से कम उस आकर्षण को भी वह विकार भावना से लिप्त न होने देता था। मणि की भी प्रायः इसने

मिलती जुलती ही अवस्था थी। हां, अपने भावों को विकृति से सर्वथा दूर रखना उसके लिए असाध्य था। फिर भी यह आकर्षण दोनों ओर चुपचाप ही अपना काम कर रहा था। यद्यपि दोनों एक दूसरे के प्रति असाधारण विश्वास रखते थे, तथापि किसी को अपने मनोभाव प्रगट करने का साहस न होता था।

अकस्मात् एक दिन एक विचित्र संयोग बन गया। मणि और उसकी ननद कुछ अन्य स्त्रियों के साथ बावड़ी में पानी भर रही थीं। दूसरी ओर नानालाल और कुछ अन्य व्यक्ति स्नान कर रहे थे। कुछ भले मानस आपस में हंसी करने के बहाने कुछ अट-सट भी बक रहे थे। उधर स्त्रियों में भी एक दो उनके जोड़ की थीं। अतः उन्होंने आपस में दिल्लगी शुरु करदी और उसमें मणि को भी घर घसीटा। उसी खींचतान में मणि का पैर रपट गया और वह बावड़ी में गिर कर गोते खाने लगी। साथ की स्त्रियां सहायता देना तो दूर, बावड़ी से बाहर भाग गईं। दूसरे पुरुष भी केवल हैं-हैं करके खड़े हो रहे। नानालाल भी पहले तो कुछ हिचकिचाया, किन्तु जब और किसी को कुछ करते न देखा तब पानी में कूद पड़ा। उधर घबराई हुई होने के कारण मणि उससे लिपट गई और फलतः दोनों के डूबने की अवस्था पैदा होगई। किन्तु किनारे के लोगों को फिर भी सहायता देने की न सूझी। सौभाग्य से नानालाल केवल पैरों से तैरना जानता था। अतः वह ज्यों त्यों कर के मणि सहित बाहर निकल आया।

सब उसकी प्रशंसा करने लगे। स्त्रियां भी लौट आईं और मणि को सहायता देने लगीं। उसके पेट से पानी निकाला गया। वस्त्र निचोड़े गये। स्वस्थ होने पर मणि ने भी अपने उद्धारक को धन्यवाद देना चाहा, किन्तु नानालाल चला गया था। वह धन्यवाद के लिए ठहरा नहीं रहा।

बस, उसी दिन से मणि का संकोच टूट गया। इसमें सन्देह नहीं कि अब भी वह अपना प्रेम प्रगट करने का साहस न करती थी। फिर

भी जब अवसर मिलता, अपने दुख सुख की बातें उससे दिल खोलकर करती थी। किन्तु नानालाल अब भी ज्यों का त्यों था। वह कभी इस विश्वास का दुरुपयोग करने की चेष्टा न करता। न वह कभी उसे पुनर्विवाह करने की सलाह देता न घर छोड़ने की। न कभी अपना प्रेम उसपर व्यक्त करता न उसके प्रेम को जानने की चेष्टा करता। इससे मणि की प्रेमआकाँक्षा ज्यों की त्यों अतृप्त रह जाती। वह यह समझ ही न सकती कि नानालाल का उसके प्रति क्या भाव है? वह उसे प्रेम करता हैं या नहीं। फिर भी उसे उसके साथ बातें करने में एक प्रकार की सान्त्वना मिलती थी। उस पर उसका अटल विश्वास था।

* * *

(८)

किन्तु कस्बे के लोगों के लिए यह बात असह्य हो उठी। होने की बात भी थी। वे इतने धनाढ्य इतने प्रभाव शाली इतने प्रतिष्ठित और इतने विद्वान थे। बुड्ढे होने पर भी गहने पहनते थे। दांत न होने पर भी पान खाते थे। फिर भी मणि उनकी ओर आंख उठाकर भी न देखती थी। कभी उनकी ओर मुस्कराती तक न थी और एक दरिद्र ब्राह्मण से घुट घुट कर बातें करती थी। इसीलिए यद्यपि ग्राम का बच्चा बच्चा उसकी निर्दोषिता का कायल था, तथापि ईर्षालुओं ने उसे बदनाम करना प्रारम्भ कर दिया, और बड़ों की कही बात को कौन नहीं मानता? फलतः दूसरे ही दिन से दृश्य बदल गया। सारे कस्बे में नानालाल की कथा फैल गई। घर घर यही चर्चा होने लगी। कल जो स्त्री पुरुष उस पर विश्वास करते थे, वे ही आज संकेतों से नाक चढ़ा कर, मुंह बिचका कर इस युग्म के प्रति घृणा प्रकट करने लगे। जो पुरुष स्त्री स्वयम् व्यभिचारी थे, उन्होंने तो सब से अधिक भाग लिया। छिपकर मद्य-मांस सेवन करने वाले ब्राह्मण वैश्यों की तरह वे सबसे अधिक घृणा और विरोध प्रकट करने को उत्सुक दिखाई दिये। मणि और

नानालाल को ये सब बातें सुनकर बड़ा क्रोध आया। क्रोध आना स्वाभाविक भी था। वे दोषी होते तो कम से कम यह सन्तोष रहता कि दुनिया सच कहती है। किन्तु वहां तो अबतक कोई ऐसी बात ही नहीं हुई थी। लेकिन क्रुद्ध होकर भी क्या करते! उन्हें चुप ही रहजाना पड़ा। भारतीय समाज में नैतिक चरित्र संबंधी बातों पर लोग इतनी जल्दी विश्वास कर लेते हैं कि कोई कितना ही निर्दोष हो उसकी कुछ नहीं चलती। फिर ये तो दोनों समवयस्क थे। मणि विधवा थी और नानालाल अविवाहित। पर बात यहीं नहीं रुकी। लोग कूकते हुए धुंधुका तक पहुँचे और पुरुषोत्तम से मणि को ले आने के लिए कहा। मणि और नानालाल ने भी यह बात सुनीं।

मणि कल से लज्जा के मारे घर से न निकली थी। घर में ही चारों ओर के व्यंग सुन और सह रही थी। किन्तु उपरोक्त संवाद सुनने पर उससे न रहा गया। उसने सोचा, "जब इन लोगों ने व्यर्थ में मेरा नाम इतना बदनाम कर दिया है और कुटुम्बी तक इस प्रचार में भाग ले रहे हैं, तो मुझे अब यही करना भी है। अब मैं नानालाल से ही विवाह करूंगी। और इन बातें बनाने वालियों को क्या मैं नहीं जानती हूँ?" यों हीं सोचती भन्नाती वह नानालाल की खोज में बाहर निकली। संयोगवश नानालाल भी स्नान करके लौटता हुआ उसे पास हीं की गली में मिल गया। था भी अकेला।

मणि घर से तो न जाने क्या-क्या सोचकर कहने को निकली थी। किन्तु सामना होने पर उसकी जीभ तालु से चिपक गई। वह कुछ भी न बोल सकी। उसकी आंखों से आंसू बह चले। नानालाल भी क्षण भर तो किंकतव्य विमूढ़ होगया, किन्तु दूसरे ही क्षण सम्हल गया। बोला "रोओ मत! यह भी समय है। निकल जायेगा!"

अब मणि का भी मुंह खुला। बोली, "नहीं नानालाल! बहुत सहन कर लिया। अब सहन नहीं होता। तुमने सब सुनाही होगा!"

नानालाल एक दीर्घ निःश्वास छोड़कर बोला, "सब सुना है। सुना क्यों नहीं है ? किन्तु ऐसी नीचता का इलाज भी क्या है ?"

"इलाज ?" मणि की आंखें लाल हो उठीं ! बोली "इलाज क्यों नहीं है ! मैं किसे नहीं जानती हूँ ? मैं तुम्हें बीसियों बातें बता सकती हूं।"

नानालाल कुछ गम्भीर होकर बोला, "जानने को तो सभ जानते हैं। मैं भी जानता हूं। किन्तु इससे लाभ ! नीचता के बदले नीचता करना तो कोई अच्छी बात नहीं है।"

मणि भी क्षण भर विचार मग्न हो गई। फिर बोली, तो अब तुम क्या कहते हो ?"

नानालाल, मानों प्रश्न का पूरा आशय न समझ कर, प्रश्नात्मक दृष्टि से मणि की ओर देखता हुआ बोला, "किस सम्बन्ध में !"

मणि ने उत्तर देने को सिर उठाया। किन्तु स्त्री सुलभ लज्जा ने उसकी पलकें नीचे गिरादीं। उसके कपोलों पर रक्त दौड़ गया।

लेकिन समय भी बड़ा मूल्यवान था। अतः उसने सारा साहस एकत्र करके कहा, "मैं अब इसे सच ही करके छोड़ना चाहती हूं ! बोलो ! तुम मुझ से विवाह करोगे ! या मुझे किसी विधर्मी की शरण लेनी पड़ेगी ?"

"विधर्मी की ?" नानालाल ने कुछ जोर से कहा। उसका मानो दम घुटने लगा।

मणि बोली, "हां, विधर्मी की ही। कारण हिन्दुओं पर मेरा विश्वास नहीं रहा है। एक तुम पर विश्वास है !"

नानालाल कुछ चिन्तित सा होकर बोला, "नहीं मणि ! ऐसा न करना ! धर्म बेचने की वस्तु थोड़े ही है।"

मणि ने कुछ व्यंग के साथ कहा, "जिस धर्म में जीने को स्थान ही न हो, उसमें कैसे रहा जाए ? किन्तु तुम मेरे प्रश्न का उत्तर क्यों नहीं देते हो ?"

नानालाल ने इस बार सिर उठाया। बोला, "मैं उत्तर देने को तैयार हूं, किन्तु मैं दरिद्र हूं। मेरे यहां तुम्हें क्या सुख मिलेगा ?"

मणि ने कहा, "मैं सुख की भूखी नहीं हूं। मुझे विश्वस्त प्रेम की भूख है। मैं तुम्हारे साथ मजदूरी करके निर्वाह करने में ही प्रसन्न रहूंगी। फिर तो मुझे अंगीकार करोगे ?"

नानालाल ने मानों मन्त्र-मुग्ध की भांति उत्तर दिया, "अवश्य।" मणि को मानों इस उत्तर से कुछ आश्चर्य हुआ। कारण उस नानालाल के इतने जल्दी सहमत हो जाने की आशा न थी। इसीलिये उसे यह भ्रम भी हुआ कि कहीं वह हंसी न कर रहा हो और उसने आंखें उठाईं। किन्तु नानालाल के मुख पर निर्बलता या हास्य नहीं, दृढ़ता और गंभीरता झलक रही थी। फिर भी अपना सन्देह मिटाने के लिए मणि ने अपने जोर से धड़कते हुए हृदय को दबाने की चेष्टा करते हुऐ कहा, "भली भांति सोचकर कह रहे हो ?"

इस बार नानालाल ने भी मणि की दृष्टि से दृष्टि मिलाई। मणि ने देखा उसमें दृढ़ संकल्प भरा हुआ था। नानालाल बोला, "सोच समझ कर ही कह रहा हूं। अब तक इस समाज और लोकलाज का मेरी दृष्टि में मूल्य था, अब नहीं है। संसार तुम्हें कुलटा समझा करे, मेरी दृष्टि में तुम निर्दोष हो।"

मणि के मुख मण्डल पर उस क्रोध शोक और आवेश की आँधी में भी एक गर्व मिश्रित प्रसन्नता की रेखा दौड़ गई। उसने कहा, "अच्छी बात है। तुम मणि के लिए इतना त्याग करने को तैयार हो

तो मणि को भी कम न पाओगे। किन्तु भूल मत जाना।" कहकर वह शीघ्रता से लौट गई।

* * *

इधर नानालाल दूकान पर पहुँचा तो मालूम हुआ कि यहाँ भी ईर्ष्यालुओं ने मन्त्र पढ़ रक्खा है। सेठ बोला, "भाई नानालाल! तुम्हारी तो बड़ी बदनामी होगई। हम तुम्हें अलग न करते, किन्तु लोग दूकान का बहिष्कार करने को तैयार हो रहे हैं?"

नानालाल भी झल्लाया हुआ तो था ही बोला, "ठीक है सेठ साहब। आप नहीं रक्खेंगे तो मैं जबरदस्ती गले थोड़े ही पड़ूंगा। लाइये, हिसाब कर दीजिए। मेरे हाथ-पैर सलामत रहें, जहां मेहनत करूंगा वहीं दो पैसे मिल जायेंगे।"

सेठ ने नानालाल का हिसाब कर दिया। नानालाल अपने घर चला गया। किन्तु उस दिन न तो उसने कुछ खाया-पिया, न कुछ काम किया। वह जाते ही अपने बिस्तर पर पड़ रहा और इन घटनाओं की आलोचना करने लगा। उसने सोचा, "समाज भी कैसा अन्धा है? धनिक चाहे जितना लफंगा हो, उसकी बात को पत्थर की लकीर मान लेता है और दरिद्र सत्य का पुतला हो तो भी उसकी बात पर कान नहीं देता। फिर मानलो कि यह बात सच्ची होती तो भी इसका नौकरी से संबंध? यदि इसमें अधर्म है, तो धर्म-अधर्म मनुष्य और ईश्वर के बीच की बात है। समाज का प्रश्न है तो समाज बुराई के मूल को क्यों नहीं काटता? वृद्ध-विवाह, बाल-विवाह और अनमेल विवाह आदि को क्यों नहीं रोकता? विवाह में रुपये लेने की प्रथा को क्यों नहीं उठाता? लड़कियों और युवकों को अपने युग्म खोजने में क्यों नहीं भाग लेने देता! यह तो पाश्चात्य नीति का अनुकरण है कि पहले तो विलास, कपट, नशे बाजी और पर धन हरण को समाज नीति का रूप देना और फिर उसके फलों को जुर्म मान दण्ड विधान रचना। फिर यही किसी

विधर्मी के साथ चली जाती तब समाज क्या करता ! यदि वह इन धनियों की वेश्या बन जाती तब क्या होता ? कोई नाम भी लेता क्या ! राम-राम कहो ! उल्टे लोग इसी मणि के द्वारा अपनी सिफारिशें पहुँचवाते और इसकी प्रशंसा के पुल बांधते ?"

(७)

पुरुषोत्तम मणि को अपने घर ले आया और प्रायः एक पखवाड़े में ही बम्बई के एक धनिक के साथ इसके पुनर्विवाह की बातचीत कर ली। धनिक उधर ही आया हुआ था। मणि रूपवती तो पहले ही थी, अब युवती भी हो चली थी। इसके अतिरिक्त नानालाल के साथ भावी जीवन काटने के सुख स्वप्नों और पुरुषोत्तम के यहां मिली हुई शांति ने उसके रूप पर और भी रंग चढ़ा दिया था। फलतः धनिक देखते हीं मुग्ध होगया और मुंह मांगी रकम देने को तैयार हो गया। किन्तु ठीक समय पर मणि ने बखेड़ा डाल दिया, अब वह काफी ढीट होगई थी। इसलिए ज्यों ही उसे इस बात का पता लगा, त्योंही उसने पुरुषोत्तम को बुलाकर कह दिया, "मैं नानालाल के सिवाए और किसी के साथ विवाह न करूंगी। यदि तुम मुझे दूसरी जगह दोगे तो मैं पुलिस में जाकर रिपोर्ट कर दूंगी ?"

पुरुषोत्तम भी डरगया। कारण प्रथम तो उसे वैसे ही मणि को रखने का अधिकार न था, फिर अब वह जवान हो चुकी थी। अतः उसने नानालाल को बुलाया और उससे सौदा पटाना आरम्भ किया। किन्तु नानालाल के पास क्या रक्खा था ! वह गरीब ब्राह्मण था। इधर बेजगार भी होगया था। उसने अपनी अवस्था पुरुषोतम को बताई। "धन व्यर्थ पुरुषोत्तम नहीं पसीजा। अर्थी दोषो न पश्यति की कहावत सिद्ध ही है। फिर पुरुषोतम नानालाल के कंगाल हो जाने की चिंता क्यों करता ? अन्त में २००) में सौदा पटा और यह रकम नानालाल ने घर जाकर पुरुषोत्तम को दी।

कहना व्यर्थ है कि इस संबंध में मणि और नानालाल दोनों ने धोखा खाया। वे चाहते तो दोनों स्वेच्छा से विवाह कर सकते थे और इस प्रकार अपनी बरबादी बचा सकते थे। वे बालिग थे और इसलिए पुरुषोत्तम या और कोई कुछ न कह या कर सकता था। किन्तु नववयस्क और बाह्य-सँसार से अपरिचित होने के कारण वे यह सोच ही नहीं सके कि उन्हें भी कुछ अधिकार है।

नानालाल को मणि तो मिल गई, किन्तु दूसरे ही दिन खाने रहने की चिन्ता ने आ घेरा। ग्राम में तो लोग उन्हें ठहरने ही क्यों देने लगे ? उन्हें यह कब सहन हो कि उनकी आंखों के सामने नानालाल मणि को लेकर सुख-चैन से रहे ? उन्होंने इन दोनों को मजदूरी और भाड़े पर मकान मिलना तक असम्भव कर दिया। लाचार नानालाल आनन्द ताल्लुके के अजरपुरा नामक ग्राम में अपने भतीजे के पास चला गया। मणि ने भी उसका तन-मन से साथ दिया। वह दिन भर अपने पति के साथ खेतों में मजदूरी करके भी इस जीवन को धन्य मानती हुई आनन्द से रहने लगी। अब उसे सुख साधनों की चिन्ता न थी। उसे चिन्ता थी जो कुछ था उसी को आनन्द मय बनाने की ! जीवन की कठोरता नानालाल को अनुभव न होने देने की। इसीलिए वह जो कुछ रूखा-सूखा मिलता, उसी को इतनी चतुराई से बनाती-संवारती कि नानालाल चकित हो जाता। उसका टूटा-फूटा झोंपड़ा भी इतना स्वच्छ लिपा-पुता और चित्रों से सज्जित रहता कि ग्राम के बड़े बड़े आदमी वहां आकर बैठने में संकोच न करते। सारे ग्राम के लोग कहते कि नानालाल की स्त्री क्या है, लक्ष्मी है।

सच्चे और हृदय से स्वीकृत प्रेम की कैसी महिमा है ? जो मणि पातिव्रत को सामाजिक अत्याचार समझती थी, वही आज आदर्श पतिव्रता थी। वही आज नानालाल के विरुद्ध एक शब्द भी सुनना पाप समझती थी। उसकी बुराई की कल्पना करना भी उसके लिए पाप था।

उसे सुखी करने के लिए वह अपने प्राण तक देसकती थी और उसके साथ इस गरीबी को, उस धनाढ्य सुसराल के मुकाबिले में ईश्वरीय आशीर्वाद समझती थी।

(१०)

प्रायः दो वर्ष इस युगल को इसी तरह बीत गये। इसमें सन्देह नहीं कि दरिद्रता का कष्ट उन्हें बराबर घेरे रहा। उन्हें मोटे-झोटे और अपर्याप्त भोजन वसन से अधिक कभी कुछ नहीं मिला। फिर भी वे सन्तुष्ट और सुखी थे। उनमें आपस में वही प्रेम था। एक दूसरे के लिए सर्वस्व त्यागने की वही उमङ्ग थी। एक दूसरे को प्रसन्न रखने की वही धुन थी और यही उनके लिए सब कुछ था।

किन्तु दुर्दैव से उनका यह सुख भी नहीं देखा गया। कहा भी है, दैवोऽपि दुर्बल घातकः। अतः दो वर्ष बाद अकस्मात् दुष्काल पड़ गया। ग्रामों में साधारण अवस्था में भी मजदूरी कम मिलती है। यदि वहां जीवन सस्ता न हो तो उससे जीवन निर्वाह भी न हो। फिर दुष्काल के समय का तो कहना ही क्या? उस समय तो स्वयं कृषक परिवार ही निठल्ले हो जाते हैं। फलतः ये दम्पत्ति बड़ी विपत्ति में फंस गए। उन्होंने एक एक करके थाली, लौटे, गिलास सब बेच दिये। घर में कोई वस्तु बेचने या गिरवी रखने योग्य नहीं रह गई। किन्तु विपत्ति फिर भी ज्यों की त्यों रही। मणि ने कातना-पीसना प्रारम्भ किया। लेकिन ये धन्धे आजकल कहां चलते हैं! वह अधिक से अधिक एक आने में पांच सेर पीसने को तैयार हो सकती थी, पर आटा पीसने की मशीन वाले इतना काम एक पैसे में ही कर देते थे। यही अवस्था सीने-कातने की थी। अब क्या किया जाय? धीरे धीरे दोनों के मुख में अन्न गए दो दिन होगए। मणि ने कहा, "अब क्या करना चाहिए?"

नानालाल एक चटाई पर पड़ा था। वह करवट बदलकर बोला, "क्या बताऊं! कुछ सूझता ही नहीं।

मणि ने फिर चिन्ता में डूबते हुए प्रश्न किया, कहीं दूसरी जगह चलें तो ? नानालाल ने आंखें ऊंची उठाईं। बोला, "दूसरी जगह कहां चलें ? आस-पास तो सर्वत्र यही अवस्था है। दूर चलने के लिए पैसों की आवश्यकता है। मांगते लज्जा आती है।"

मणि— "तब !"

नानालाल मुस्कराया। बोला, "तब क्या ! ईश्वरेच्छा बलीयसी जब तक जीवित हैं बातें करो। मरने लगेंगे तब एक दूसरे के गले में बाहु पाश डालकर प्राण छोड़ देंगे ? क्यों ठीक है न ?" कहकर नानालाल और जोर से हंस पड़ा।

किन्तु मणि को हंसी नहीं आई। उसके मन में दूसरे ही भाव चक्कर लगा रहे थे। उसकी आंखों से तो मानों, उल्की चिनगारियां निकलने वाली थीं। वह सोच रही थी "संसार में सारे दुःख गरीबों के लिए ही दिखाई देते हैं। यह भी ईश्वरेच्छा है क्या ? और यदि यह ईश्वरेच्छा है तो न्याय भी है क्या ?—प्रकटतः बोली, "जिस ईश्वर के यहां न्याय नहीं हैं उसके भरोसे रहने से लाभ ?"

नानालाल ने मानों कोई नई बात सुनी। उसे ईश्वर आत्मा आदि का अधिक ज्ञान न था, किन्तु उसे उनके अस्तित्व और न्यायकारी होने पर बचपन से विश्वास कराया गया था। आज पहला ही अवसर था कि उसने यह बात सुनी। इसीलिये वह एक दम प्रश्न कर उठा, "ईश्वर के यहां न्याय नहीं है !"

किन्तु मणि ने उसकी यह व्यग्रता नहीं देखी। वह विचारों में डूबी हुई दूसरी ओर देख रही थी। इसीलिए उसने वायु से उड़कर कपोलों और आंखों पर लहराती हुई अपनी अलकों को पीछे हटाते हुए उसी शाँति के साथ उत्तर दिया, "और क्या न्याय होता तो क्या इस तरह लड़कियों को बेचने और बिना हाथों से श्रम किये साहूकारी की आड़

ये ठगी करने वाले मौज करते एवं खरी कमाई पर जीने वाले गरीब दुख पाते ?"

नानालाल के भी मस्तक पर कुछ बादल छा गए। उसे अपने ग्राम के बड़ों की सारी नीचताओं और पुरुषोत्तम के स्वार्थ का स्मरण हो आया। वह सोचने लगा, "ठीक तो है वास्तव में इस संसार में न्याय कहां है! अन्यथा हमने कौन सा पाप किया है! आज संसार में गरीबी ही तो पाप है। "करो पाप, खाओ धाप! करो धरम फूटें करम" यही कानून तो व्यवहार में आता दिखाई देता है!" किन्तु दूसरे ही क्षण मानो उसका हृदय इन भावों के विरुद्ध विद्रोही हो उठा। वह कहने लगा "तुम व्यर्थ अपना दोष ईश्वर पर डालते हो। निस्सन्देह तुमने बड़ों के से पाप नहीं किये हैं, लेकिन पाप न होने देना भी तो कर्त्तव्य है। हम गरीब लोग पाप होने देकर और पाप को चुपचाप सहकर पाप करते रहें और उसी पाप का यह फल है!" मन की इस कल्पना ने नानालाल के विचारों का रुख सर्वथा पलट दिया। अब वह ईश्वर के न्याय और अन्याय के प्रश्न को भूलकर पाप-प्रतिकार के प्रश्न पर विचार करने लगा। किन्तु क्या करे, यह कुछ न सूझा।

इसी समय मणि उसकी ओर घूम कर बोली, "एक काम करो न ?"

नानालाल को मानो डूबते २ सहारा मिला। पूछा, "कौन सा काम ?"

मणि — "किसी धनाढ्य के हाथों मुझे बेच दो।"

यह सुनकर नानालाल की भौंहें कुञ्चित हो उठीं। वह कुछ जोर से बोला, "तुम्हें बेच दूं ?" फिर क्षण भर रुक कर मणि के उदास मुख की ओर देखते हुए उसने कहा, "नहीं ? मुझे अपने प्राण इतने प्रिय नहीं हैं। वैसे भी संसार में कौन अमर है ?"

मणि ने कहा, "सुनो तो सही ...."

नानालाल ने बीच ही में उसके मुख पर हाथ रखते हुए कहा, "नहीं नहीं, मैं ऐसी बात नहीं सुनना चाहता ! मैं अपनी मणि को अपने से अलग करके जीने की अपेक्षा उसे अंक में लेकर मर जाना श्रेयस्कर समझूंगा," उसने मणि को बाहु-पाश में ले हृदय से लगा लिया।

मणि की आँखों में आंसू छलछला आए ; कुछ क्षण भावावेग के कारण दोनों में कोई भी न बोल सका। फिर मणि ने अपना सिर उसकी छाती पर रक्खे रक्खे ही कहा, "आप ने मेरी बात को भली-भांति समझा नहीं है। मेरी इच्छा यह थी कि आप मुझे बेचदें और फिर मैं इसे धोखा देकर भाग आऊंगी फिर कहीं दूर चले चलेंगे।"

नानालाल अपनी अंगुलियों से उसकी अलकों को सुलझाता हुआ बोला, "बात तो तुमने बड़ी दूर की सोची, किन्तु इसके गुण दोषों पर विचार नहीं किया है। यह एक आदमी को ठगने का पाप तो है ही, जोखम का भी काम है। पाप तो होगा सो होगा ही, भेद खुल गया तो जेल अलग जाना पड़ेगा।"

"ठगना ?" मणि ने सिर उठाते हुए कुछ उत्तेजित स्वर में कहा "वे तो स्वयम् ठग हैं। फिर क्या उनकी और हमारी यह अवस्था उनकी बदौलत नहीं है ? यदि वे हमें घर से भी वंचित न करते तो क्यों आज हमें प्राण रक्षार्थ ऐसे उपायों पर विचार करना पड़ता ! आखिर जिसे ईश्वर ने सजीव बनाया है उसे जीने का तो अधिकार है ही। दुनिया सदुपायों से न जीने दे तो वे दुरुपायों से जियेंगे। इसमें पाप कैसा ?"

इस दर्शन के सामने नानालाल के भी धार्मिक भाव हिल गए। उसने सोचा, "ठीक तो है। जीने का तो सभी को अधिकार है और जब सदुपायों के लिए स्थान नहीं है तो दुरुपायों का आश्रय क्यों न लिया जाये ? जब धनिकों के लिए और अधिक धन संग्रह करने को

दुष्पायों का आश्रय लेना विहित है तो हमारा जीवन धारण करने के लिए ऐसा करना विहित क्यों नहीं है ?"

इसी समय मणि ने फिर कहना आरम्भ किया, "और जेल क्यों जाना पड़ेगा ? भागूंगी तो मैं। ऐसी अवस्था में जेल होगी तो मुझे होगी।" यह सुनकर नानालाल के मस्तक पर सल पड़ गए। इस पर मणि मानो उसका मनोभाव समझ कर जल्दी से बोली, "और मुझे भी क्यों होगी ! वह यह तो कहने से रहा कि उसने मुझे मोल लिया है और दूसरी तरह मेरे ऊपर उसका अधिकार सिद्ध न होगा !"

नानालाल इस स्पष्टीकरण से कुछ प्रसन्न हुआ, किन्तु फिर भी उसका मन न माना। बोला, "फिर भी है बखेड़ा ही।"

मणि ने कहा, "बखेड़ा ही सही। अभी प्राण तो बच जायेंगे। फिर ये धनिक हैं भी किस काम के ! इनके साथ तो जो किया जाए वही थोड़ा है। मौत तो वैसे भी सामने है ही।"

अन्त में मणि की विजय हुई। नानालाल ने उसका प्रस्ताव स्वीकार कर लिया और तदनुसार एक कार्यक्रम तैयार कर वह किसी ऐसे उल्लू की खोज में चल निकला। सच है,

बुभुक्षितः किन्न करोति पापम्,
क्षीणा जनाः निष्करुणा भवन्ति !

(११)

तीसरे दिन घूमते २ नानालाल वीरम गांव के निकट मकराना (ग्राम) में पहुँचा। यहां एक ब्राह्मण देवता रहते थे। नाम था भाई-शंकर। आयु होगी प्राय ६० वर्ष की। ये एक पाठशाला में अध्यापक थे। यह जानकर कि नानालाल ब्राह्मण है, उन्होंने उसका सत्कार किया और भोजन कराने घर पर लेगये। इस आतिथ्य में उनका स्वार्थ भी था और स्वार्थ भी ऐसा जो नानालाल से मेल खाता था। फलतः

नानालाल को उद्देश्य सिद्धि के लिऐ विशेष श्रम नहीं करना पड़ा। वृद्ध ने स्वयम् ही कथा छेड़ दी। "घर में इतना धन है। इतने आभूषण हैं। इतनी आय होती हैं, किन्तु कोई सम्हालने वाला नही है। एक भतीजा है, किन्तु पुरुष से कहीं घर सम्हलता हैं ?"

नानालाल तो यह चाहता ही था। सहानुभूति दिखाता हुआ बोला, "इतना भरा पूरा घर और बिना गृहिणी के। यह तो वास्तव में बड़ी खेद की बात है।"

वृद्ध बोला, "हाँ भाई! घर तो घरवाली से ही बनता हैं। लेकिन क्या किया जाये? आजकल ये नये नये सुधारक छोकरे पैदा होगये हैं। इनके मारे नाक में दम है। प्रथम तो कहीं लड़की हीं नहीं मिलती। मिलती है तो ये भांजी मार देते हैं।"

नानालाल अपने मनोभावों को दबाता हुआ बोला, "आप को बुड्ढ़ा कौन कहता हैं? आप तो अभी दो स्त्रियां रख सकते हैं। आपको कोशिश करनी चाहिए! छोकरों की बक-बक पर ध्यान न दीजिये। यह तो दुनियाँ हैं। रांडें रोती ही रहती हैं और पाहुने जीमते ही रहते हैं।"

भाई शंकर फूल कर कुप्पा होगये। वे जवानों की तरह अकड़ कर नानालाल के सामने बैठ गये। फिर बोले, "कोशिश क्या करूं! जानते हो स्वयम् तो प्रयत्न करते लज्जा आती है। हां, आप जैसा कोई भाई कुछ करे तो रुपये मैं व्यय कर सकता हूँ।"

नानालाल के ओष्ठों के भीतर ही भीतर एक हंसी की रेखा दौड़ गई। किन्तु ऊपर से कुछ गम्भीर मुख-मुद्रा बनाते हुऐ उसने कहा, "देखिये, कोशिश करूंगा! मेरे हाथ से किसी भाई का घर बस जाये तो यह तो मेरे लिए सौभाग्य की बात होगी।" फिर मानो कुछ स्मरण करके बोला. "एक लड़की है तो सही, मगर उसका बाप बड़ा मूंजी हैं। तैयार होगा तब हैं." भाई शकर के मुह में पानी भर आया। उसे

गले में उतारते हुए उन्होंने उत्सुकता से पूछा, "कितनी उम्र की है ?"

नानालाल ने कुछ गर्व के साथ कहा, "अजी लड़की के बारे में तो कुछ पूछो ही मत। पूरे सोलह वर्ष की षोड़शी है। रूप देखो तो ऐसा है कि उसके सामने रानी भी पानी भरे। मगर उसका बाप मान जाए तब है!"

भाई शंकर झट उठकर भीतर चले गये। एक कटोरी में आधा पाव घी लिया, उसमें मिश्री मिलाई फिर उसे नानालाल की थाली में रखते हुए बोले, "भाई! ऐसा सौदा पट जाये तो हम उम्र भर आप का गुण न भूलेंगे। सच कहता हूँ, लाख का घर खाक होरहा है, रुपये तो तुम कहो जितने खर्च कर सकता हूँ!"

नानालाल की आंखों में सफलता की हंसी झलक उठी। किन्तु वह थाली की ओर ही दृष्टि झुकाये रहा। हंसी भी आई थी, किन्तु उसे उसने खांसने की आड़ में छिपा लिया। फिर बोला, "देखिये, मेरा बस चलते तो कुछ उठा न रक्खूंगा। फिर ईश्वरेच्छा।"

अब क्या था? नानालाल की खूब मेहमानी हुई। नानालाल भी ऐसी जगह से दस-पांच दिन न जाता, किन्तु उसे मणि की चिन्ता थी। उसके लिए वह एक पड़ौसी से उधार लेकर केवल तीन दिन की खाद्य सामग्री रख आया था। हां, उसने बयाने के तौर पर बुड्ढे से कुछ ऐंठ लेने की कोशिश की। जगह की दूरी, आने जाने की कठिनाई, किसी के घर देखने जाने आदि की संभावना बताकर कुछ रुपये की मांग की। पर बुड्ढा भी घुटा हुआ था। उसने उसे नाम मात्र की रकम देकर ही टरकाया। नानालाल ने भी "भागते भूत की लंगोटी" को ही गनीमत समझा और विदा हो गया।

प्रायः एक सप्ताह आनन्द से बिताकर नानालाल फिर अपने शिकार की ओर चला। इस बार उसके मनमें भय या संकोच न था। पहली

बार की सफलता ने उसका हौसला तो बढ़ा ही दिया था, भाई शंकर जैसों के प्रति उसके मनमें घृणा भी उत्पन्न कर दी थी। वह सोचने लगा था कि जो लोग अपने लाभ के सामने स्त्रियों के जीवन और भावनाओं की कुछ चिन्ता ही नहीं करते, वे इसी व्यवहार के पात्र हैं। उसने मकराना पहुँच कर भाई शंकर से कहा, "लो भाई! उसी दिन से दिन-रात दौड़कर बड़ी मुश्किल से काम पकाया है?"

भाई शंकर बहुत प्रसन्न हुआ। वह उठकर नानालाल से बड़े प्रेम से मिला और उसे कोठे पर एकान्त में लेगया। फिर बोला, "भाई! तुम न करते तो और करता भी कौन? मेहनत तो पड़ी ही होगी। लेकिन फिकर न करो। भाई शंकर कृतघ्न नहीं है।"

फिर काम की बातें छिड़ीं। नानालाल ने कहा, "लड़की का बाप तो तैयार हुआ नहीं। वह तो पांच हजार रुपये और अच्छा घर मांगता था। मैंने उसकी मां को तैयार किया है। रुपये पन्द्रह सौ लेगी!"

वृद्ध ने भी पहले तो सच्चाई—झुठाई जांचने को रकम के बारे में कुछ आना-कानी की, किन्तु जब नानालाल को हिलते न देखा, उल्टा बिगड़ते देखा, तो स्वीकार कर लिया। हां, लड़की को वहीं लाकर सौंपना निश्चित हुआ।

नानालाल फिर ५-६ दिन मेहमानी खाकर और कुछ रुपया लेकर रवाना होगया। घर आकर दस-पांच दिन खूब आनन्द से बिताये। सारी तैयारी कर फिर रवाना हुआ। निश्चय हुआ कि वहां मणि का नाम कमला रहेगा और वह अपने को ब्राह्मणकुमारी बतावेगी। साथ ही पता ठिकाना भी बदल लिया गया।

ये लोग मकराना पहुँच कर एक धर्मशाला में ठहर गये। संध्या समय भतीजे सहित भाई शंकर भी आ पहुँचा। उसने देखा, लड़की का जैसा वर्णन नानालाल ने किया था, उससे कहीं अधिक रूपवती है। वे

बड़े प्रसन्न हुए। तत्काल नानालाल को पन्द्रह सौ रुपए लड़की की मां के लिए और कुछ उसके पुरुस्कार के भेंट किये और मणि को घर लिवा ले गये। नानालाल वापिस चला आया।

किन्तु मणि के लिए वापस भागना उतना सरल प्रमाणित नहीं हुआ जितना उसने समझा था। उसने अपने को रीछ के पिंजरे में पाया। बुड्ढे को न जाने क्यों आशंका होगई। उसने अपने भतीजे को तो नियमित पहरे पर नियत कर ही दिया, स्वयं भी दिन भर में कई चक्कर लगाने लगा। मणि को इससे बड़ी घबराहट हुई। किन्तु करती क्या? विवश हो सुअवसर की राह देखने लगी।

* * *

उधर नानालाल को भी जीवन भार हो पड़ा। इसमें सन्देह नहीं कि आज उसके पास इतने रुपये थे, जितने उसने कभी जीवन भर में न देखे थे। किन्तु फिर भी मानों उसके पास कुछ न था। घर मानो उसे खाने को दौड़ता था। प्रेम में द्राक्ष-रस की तरह यह एक बड़ा दोष है। वह बड़ी जल्दी मोह-मदिरा का रूप धारण कर लेता है। फिर मणि ने तो अपने गुणों, अपने पातिव्रत और अपनी सेवाओं द्वारा नानालाल के हृदय में गहरा स्थान बना लिया था। अफ़ीमची चाहे अफ़ीम बिना रह जाये, मच्छी चाहे जल बिना रह जाये, चातक चाहे चन्द्रमा के वियोग में शान्त रह सके, किन्तु नानालाल मणि के बिना सुखी न रह सकता था।

धीरे धीरे पन्द्रह दिन बीत गए। अब उसकी बेचैनी का ठिकाना न रहा। उसके लिए घड़ी भर भी निश्चिन्त रहना कठिन होगया। अन्त में उसने स्वयं उसके उद्धार की चेष्टा करना निश्चित किया। कुछ रक़म एक जगह जमा करादी और शेष से मकराने में जाकर दूध-रबड़ी की दूकान खोली। लोगों को नशे आदि का चस्का लगाना और प्रत्येक से मेल-जोल बढ़ाना शुरू किया।

किन्तु भाई शंकर बड़ा घाघ था। वह साधारण बातों में भी सन्देह करता था। वह जानता था कि वह बुढ़ापे में युवती-पत्नि लाया है और इसलिये वह बल-कौशल द्वारा ही स्त्री को घर में रख सकेगा। यद्यपि ऊपर से उसने अपना सन्देह प्रगट नहीं किया, तथापि वह एक ओर तो नानालाल की गति-विधि पर कड़ी दृष्टि रखता रहा और दूसरी ओर उसकी दूकान को अप्रिय बनाता रहा। मणि के लिए तो उसने घर से बाहर झांकने की भी मनाई कर दी।

इधर नानालाल को ज्यों ज्यों असफलता होने लगी, त्यों त्यों वह और क्षुभित होने लगा। यह स्वाभाविक भी था। असफलता से मनुष्य खीझ उठता है। फिर यहां तो क्रोध और उत्तेजना को बढ़ाने वाली असफलता के अलावा और भी बहुत सी बातें थीं। उसे न केवल मणि का वियोग सताता था, प्रत्युत वह विचार भी ठोंचता था कि जिसने उसकी खातिर अपने को बेच दिया, उसी को वह नहीं छुड़ा पारहा है। वह सोचता था, "मणि अपने मन में क्या कहती होगी? वह समझती होगी कि मेरा प्रेम दिखावटी था। मेरा स्नेह ढोंग था। इसीलिए रक़म मिलते ही मैं उसे भूल गया हूँ!" बात थी भी ठीक। मणि बिकी थी तो उसी के प्रेमवश; उसी के प्राण बचाने को। अन्यथा उसके लिए तो आज बड़े से बड़े द्वार खुले थे। यह विचार नानालाल पर जादू का सा प्रभाव डाले बिना कैसे रह सकता था? किन्तु नानालाल को कोई मार्ग न सूझता था।

* * *

धीरे धीरे नानालाल की यह मानसिक अशांति यहाँ तक बढ़ी कि उसे रात-रात भर नींद न आती। रात भर न जाने क्या क्या सोचा करता? कभी करवट बदलता। कभी रोता और कभी अपनी दुर्बलता पर हंसता पर सबसे बड़ी कठिनाई यह थी कि भेद खुलने के भय से वह अपने मन की इस वेदना को किसी पर प्रकट न कर सकता था। और इसलिये एक बोझ उसकी छाती पर बराबर बना रहता था। मणि की

कठिनाईयों का ध्यान उस बोझ को और गुरुतर बनाता था। यह तो कल्पना ही न की जासकती थी कि मणि वहां प्रसन्नता से रह रही है। अवश्य ही वह विवश हैं। बाहर भी वह न निकल पाती थी। अतः स्वभावतः ही नानालाल की कल्पना उसकी कठिनाईयों को बढ़ा-चढ़ा कर उसके सम्मुख रखती थी।

* * *

"मर्ज बढ़ता ही गया ज्यों ज्यों दवा की"। बढ़ना भी था। गीता के अनुसार— "क्रोधाद्भवति संमोह संमोहात्स्मृति विभ्रमः। स्मृति भ्रंशाद बुद्धि नाशो, बुद्धि नाशात्प्रणश्यति!"—कामना के असफल होने पर क्रोध आता है। क्रोध में अविचार बढ़ता है। अविचार से बुद्धि नष्ट होती है और बुद्धि नष्ट होने से मनुष्य स्वयम् नष्ट होजाता है। फिर यहां तो दिन-रात की चिन्ता उसके गले में बधी थी। वह एक दिन तो इतना परेशान होगया कि उसने आत्म-घात का विचार किया। समय भी रात्रि का था। प्रायः एक बजा होगा! चन्द्रमा अस्त हो चुका था। रजनी तारों से सज्जत नीली साड़ी ओढ़े प्रौढ़ा की चाल से वायु के साथ बातें कर रही थी। ऐसे ही समय नानालाल ने सोचा, "जब उसे छुड़ा नहीं सकता, तब जीने से भी क्या लाभ? मृत्यु से शांति तो मिल जायेगी। यह नित्य की चिन्ता और रात्रि जागरण से तो मुक्ति मिल जायेगी। यदि हमारा प्रेम सच्चा है तो यहां न सही परलोक हम में अवश्य मिलेंगे।" इस पुन मिलन के विचार ने सहसा उसके मृत्यु के विचार को मधुर बना दिया।

उसने सोचा, "ठीक है! मिलेंगे भी और जल्दी ही मिलेंगे मेरे मरने के सवाद सुनकर मणि भी अधिक दिन जीवित न रहेगी।"

वह उठा और दूकान में आया। सब सामग्री देखी। रुपयों की भी स्मृति आई। मन में प्रश्न उठा, "इनका क्या किया जाए?" किन्तु फिर वह स्वयम् ही अपनी इस मूर्खता पर हंस पड़ा। कहने लगा,

"जब मरने जारहा हूँ तो इसकी चिन्ता क्यों ? मेरे पीछे कौन है जिसके लिए कोई व्यवस्था करूं ?"

इसी प्रकार विचारों की उधेड़-बुन में वह दूकान बन्द कर बाहर निकला और दबे पैर ग्राम से निकल एक बावड़ी पर जा पहुँचा। किन्तु मृत्यु का सामना करना उतना सहज नहीं जितना उसकी कल्पना करना। इस संसार का मोह मनुष्य से बड़ी कठिनाई से छूटता है। नानालाल के विचारों ने भी बावड़ी पर पहुँचते-पहुँचते पलटा खाया। उसने सोचा, "इस तरह उसे इस दुष्ट के पंजे में छोड़कर मरना तो कायरता है। जब मरना ही है तो उसके उद्धार के प्रयत्न में ही क्यों न मरा जाये ?" वह बावड़ी की सीढ़ियों पर बैठ गया। अनेक विचार वायस्कोप के चित्रों की तरह उसके मनमें चक्कर लगाने लगे। उनके चक्कर में वह कुछ देर के लिए अपने तन-बदन की भी सुध भूल गया।

सहसा उसके मन में एक नई कल्पना उदित हुई और वह उठकर घर की ओर चल दिया। कल्पना क्या थी ! भाईशंकर का "मूंठ" आदि द्वारा काम तमाम कराना और इस प्रकार मणि को फिर प्राप्त करना। पहले नानालाल जादू-मूंठ आदि पर विश्वास न करता था। किन्तु आवश्यकता मनुष्य से सब कुछ करा लेती हैं। आज उसने पूरा विश्वास न होते भी इस उपाय का आश्रय लेना निश्चित किया। जादूगर भी मिलगए। भेड़ को कहां मूंड़ने वाले नहीं मिलते ? भोले को कहाँ ठगों का टोटा रहता है ? अब होने लगे अनुष्ठान। किसी ने जप कराया किसी ने होम। किसी ने उड़द मन्त्रित कर फेंके किसी ने सुई के टुकड़े। किसी ने उतारा किया किसी ने मसान जगाया। किसी ने दस रुपये खर्च कराये किसी ने पन्द्रह। किन्तु भाईशंकर के पास जाने से मौत भी घबराती थी। वह ऐसे निकम्मे बुड्ढे को लेजाकर करती भी क्या ?

(१२)

अन्त में नानालाल ने शारीरिक बल और बुद्धि कौशल का ही आश्रय लेना निश्चय किया। उसने दूकान का कारोबार समेटा।

बर्तन ठीकरे बेचे और जाने की तैयारी की। संयोगवशात, जाते-जाते उसे एक साधन भी मिल गया। वह भाईशंकर से मिलने गया। भाई शंकर ने भी उसकी दूकान न चल सकने पर दुःख प्रकट किया और सान्त्वना दी। फिर कुछ और बातें निकलने पर मोहनलाल के लिए भी कोई लड़की तलाश करने का अनुरोध किया। बोला, "यह कर सको तो तुम्हारी दूकान का घाटा मैं पूरा कर दूंगा।" नानालाल ने भी यह बात स्वीकार करली। रुपये के लिए नहीं। रुपये की अब उसे भूख न थी। वह अधिक लालची न था। किन्तु मणि की प्राप्ति में यह मोहनलाल ही सब से अधिक बाधक था। यही आठ पहर पहरा देता था। अन्यथा बुड्ढे को तो मणि किसी न किसी तरह ठीक कर ही लेतो। अतः उसने इस कांटे को दूर करने की दृष्टि से यह प्रस्ताव स्वीकार कर लिया।

कुछ दिन पश्चात् नानालाल ने अहमदाबाद से भाईशंकर के पास सम्वाद भेजे कि सौदा पट गया है। किन्तु लड़की वाले मोहनलाल को देखना चाहते हैं, अतः उसे भेज दो।

भाई शंकर इस संवाद से बड़ा प्रसन्न हुआ। सोचने लगा, "अच्छा है, इस तरह दो स्त्रियां हो जाने से इसका (मणि का) भी मन लग जायेगा।"

मोहनलाल को भी प्रसन्नता हुई। उसने सोचा, "उसने बुड्ढे काका के लिए ऐसी सुन्दर लड़की खोजी है तो मेरे लिए तो न जाने कैसी खोजी होगी!" उसने नाई को एक आना अधिक देकर बढ़िया हजामत बनवाई। तेल की मालिश की। फिर स्नान कर अच्छे वस्त्र पहने, सजीली पाग बांधी। तीन चार बार आयना देखा। कुछ रुपये पल्ले बांधे और अहमदाबाद की ओर रवाना होगया।

* * *

सायंकाल चार बजे मोहनलाल नानालाल के पास पहुंचा। नानालाल ने बड़ी प्रसन्नता दिखाई। किन्तु बोला, "जरा देर से

आए !" मोहनलाल का हृदय धड़कने लगा। मुंह सूख गया। बोला, "क्यों इससे कुछ बाधा तो नहीं पड़ेगी !"

नानालाल मुस्कराकर बोला, "नहीं नहीं ! घबराओ मत ! बात इतनी ही है कि लड़की यहां से दो तीन कोस दूर एक ग्राम में हैं। आज का ही इकरार है। जल्दी आते तो दिन दिन में काम होजाता।"

मोहनलाल ने मानो एक विपत्ति से छुट्टी पाई। उसकी छाती पर से आशंका का बोझ हट गया। बोला। "ओह ! इसकी क्या चिन्ता है। मैं रात में भी चल सकता हूं।"

नानालाल ने कहा, "अच्छी बात है, किन्तु फिर भी अंधेरे का मामला है। अतः तुम थोड़ी देर विश्राम करो, तब तक मैं एक और साथी खोज लाता हूँ ?" मोहनलाल ने स्वीकार किया और एक चारपाई पर लेटकर भावी सुखस्वप्नों के उपवन में विचरण करने लगा।

* * *

दिन अस्त होते होते नानालाल "फाटाहाथी" नामक एक धारला को लिये आ पहुँचा और ये तीनों रवाना हुए। किन्तु यह क्या ? ज्यों ही ये अहमदाबाद से प्रायः एक कोस दूर पहुंच कर, साबरमती में मिलने वाले एक बरसाती नाले में उतरने लगे, कि मोहनलाल के दोनों साथियों ने उस पर आक्रमण कर दिया। बिचारे मोहनलाल से कुछ भी करते धरते न बना। वह वहीं चिर-निद्रा में सो गया।

* * *

किन्तु बात छिपी न रही। इस कृत्य के लाभ भली भांति लूटने के पूर्व ही किसी प्रकार पुलिस को उक्त घटना का पता लग गया और उसने दोनों अपराधियों को पकड़ लिया। लेकिन प्रमाण कुछ न था। होता भी कहां से ? तीसरा आदमी न तो उस षड़यन्त्र में शामिल था न उक्त स्थान पर उपस्थित था। अतः पुलिस ने अपने हथकण्डों से काम लिया

दोनों को अलग अलग रक्खा। फिर धारला से कहा कि नानालाल ने स्वीकार कर लिया है और नानालाल से कहा कि धारला ने सब भेद खोल दिया है। और उपायों का भी प्रयोग किया। फल यह हुआ कि दोनों ने इक़बाल कर लिया। किन्तु हाईकोर्ट में जाकर वे फिर संभल गये और अपना बयान बदल दिया। पुलिस के लिए फिर कठिनाई उपस्थित हुई।

उधर मणि ने जब इक़बाल की बात और दूसरे हाल चाल सुने तो उसने सिर पीट लिया। वह अधीर हो उठी। उसे नानालाल को बचाने का कोई उपाय न सूझता था। वह सोचने लगी, "कैसा अन्धेर है? मूल अपराध है लड़कियों पर रुपये लेने की प्रथा का किन्तु उसे कोई हाथ नहीं लगाता है, उसके विरुद्ध कोई कानून नहीं बनता और उसके ग्राहकों को दण्ड दिया जाता है।" इधर नानालाल के शत्रुओं ने भी उसकी इस अवस्था से लाभ उठाया और सब कुछ अदालत में सच सच कहने की सलाह दी। मणि भी अधीर हो रही थी। उसने सोचा वास्तविक बातें सुनकर अदालत पसीज जायेगी।

किन्तु पाँसा उल्टा पड़ा। मणि ने जो वास्तविकता नानालाल को बचाने के लिए प्रगट की, उसी से वह फंस गया। मणि का बार बार सारे अपराधों का दोषी अपने को बता स्वयम् दण्ड भोगने को तैयार होना और अदालत में करुणा स्त्रोत बहाना कुछ भी काम न आया।

बम्बई हाई कोर्ट ने दोनों अभियुक्तों को आजन्म कारावास का दण्ड दे दिया। प्रेम की बलिवेदी पर दोनों प्रेमी सर्वस्व अर्पण करके भी न मिल सके।

इसमें सन्देह नहीं कि अदालत ने न्याय किया, किन्तु क्या उसने मूल सामाजिक कुप्रथा के लिए भी कुछ कहा, जिसने नानालाल को इस भयंकर दुष्कृत्य के लिए बाध्य किया! इस विषय में न्यायालय ने मौन ही रहना उचित समझा।

७. अनुपम-त्याग

बसन्तोत्सव अभी समाप्त हुआ है। इसीलिए हस्तिनापुर नगर में और उस के बाहर बन प्रदेश में चारों ओर आनन्द का समुद्र लहरा रहा है? प्रफुल्लता ही प्रफुल्लता छाई हुई है?

पुरानी प्रतिनिधि सभा की भी आज ही बैठक होने वाली है। लोग अभी से सभा-भवन के दर्शक विभाग में आ-आकर इकट्ठे होने लगे हैं। प्रत्येक को चिन्ता है कि देर होजाने से पीछे बैठना पड़ेगा! स्त्री दर्शकों की भी कमी नहीं है। देश की राजनीति में रुचि रखने और भाग लेने वाली महिलायें आज विशेष उत्साह से सभा की कार्यवाही देखने आई हैं। कारण इस वर्ष की सभा की ये अन्तिम बैठकें होंगी और इनमें प्रत्येक प्रान्त के सालभर के सारे शासन का सिंहावलोकन किया जायेगा। स्वयम् महाराज शान्तनु भी भाषण देंगे।

सभा-भवन स्वयम् एक मनोहर चित्र भवन बना हुआ था। बीच में भिन्न भिन्न प्रदेशों के प्रजा प्रतिनिधि और उनके पीछे रंग-बिरंगी पोशाकें पहने हुए विभिन्न श्रेणी के दर्शक एवं ऊपर के खण्ड में उत्सुक नेत्रों से झांकती हुई—झुकी हुई कमल-मुखी सुन्दरियां सभी सभा-भवन की शोभा को दुगुनी कर रहे थे।

सहसा वाद्यों द्वारा महाराज के आने की सूचना मिली। सदस्यगण खड़े होगये और द्वार की ओर देखने लगे। महिलाओं की भी दृष्टि उसी ओर जालगी। दूसरे ही क्षण पार्षदों से घिरे सादे वेश में महाराज शान्तनु ने प्रवेश किया। सदस्यों ने प्रणाम किया। शान्तनु ने भी मुस्कराते हुए उत्तर में सिर झुकाया और फिर सिंहासन पर जा बैठे।

सभा जय-घोष से गूंज उठी। प्रधान मन्त्री ने आज के कार्य-क्रम की सूचना दी।

इसके पश्चात् महाराज शान्तनु उठे और अपना भाषण आरम्भ किया। उनके भाषण ओजस्विता और रोचकता के लिए वैसे भी प्रसिद्ध थे, किन्तु आज का भाषण सब दिनों से अधिक रोचक रहा। इसीलिए थोड़ी ही देर में सहस्त्रों मनुष्यों से भरे सभा भवन में पूर्ण शांति छा गई। और उपस्थित जन मंत्र मुग्ध होकर उसे सुनने लगे।

शान्तनु स्वयम् भी अपने भावों में डूबे थे। अकस्मात् उनकी दृष्टि ऊपर के कक्ष में एक युवती के मुख मण्डल पर पड़ी। युवती अपूर्व सुन्दरी थी और वेश से कुमारी जान पड़ती थी। उसके गौर वर्ण, भरे हुए और सुडौल मुख, विशाल आंखों और धनुषाकार भृकुटियों ने मानों शान्तनु की आँखों को अपनी ओर देखने के लिए विवश कर दिया। वह जंगले के सहारे आगे को झुकी हुई इतनी एकाग्रता से शांतनु का भाषण सुन रही थी कि उसे अपने तन का भी भान न था।

उसे देखकर क्षण भर तो मानो शांतनु भाषण देना भी भूल गये। उनकी दृष्टि मानो उस मुख मण्डल के आगे स्थिर हो रही। किन्तु दूसरे ही क्षण वे सम्हल गए। उन्होंने फिर अपना भाषण आरम्भ किया। किन्तु इस बार उनका भाषण भाषण नहीं, जादू बन गया था। मानों वे किसी दैवी शक्ति के प्रभाव में आकर बोल रहे थे। यहां तक कि उन्होंने सारी सभा को बेसुध बना दिया। फलतः वे भाषण समाप्त करके बैठ गए तब जाकर कहीं लोगों का ध्यान भंग हुआ और उन्होंने जय-घोष किया।

(२)

सभा से लौटने पर शांतनु को अपनी कृति पर बड़ी ग्लानि हुई। उन्होंने अपने मन को बहुत धिक्कारा। 'प्रजा की बालायें तो बहन-बेटी के समान हैं—उनकी ओर मेरा इस प्रकार देखना क्या उचित होता?

है !' आदि अनेक प्रकार की कल्पनाएं उनके मन में चक्कर लगाने लगीं। उधर अभी चार वर्ष पूर्व ही परलोकगता महारानी गंगा का भी स्मरण हो आया।

किन्तु मन कहां मानता था ! वे हजार भुलाने की चेष्टा करते तो भी बार-बार वही मुख मण्डल का चित्र सामने आखड़ा होता। अवश्य ही शांतनु अपने विचारों को यथा-साध्य पवित्र रखते रहे, किन्तु उसे भूलना तो उन्हें भी असाध्य ही दिखाई दिया। यही क्यों, जहां वे स्त्री दर्शकों की ओर क्वचित ही दृष्टिपात करते थे वहां अब प्रायः कई बार उस ओर देखने लगे। निस्सन्देह वे इस बात पर भी प्रायः मनको धिक्कारते थे, किन्तु फिर भी न मन मानता था न दृष्टि मानती थी। उधर वह बाला भी प्रायः उनके प्रत्येक भाषण में पहुँच जाती थी। हां, एक लाभ भी होता था। उसकी उपस्थिति से शान्तनु के भाषणों में जो ओज और लालित्य पैदा होजाता था, वह और किसी प्रकार संभव न था। उनके भाषणों की इस प्रांजलता पर और लोगों को तो आश्चर्य होता ही था, उन्हें स्वयम् भी कम आश्चर्य न था।

फल यह हुआ कि उनके भाषणों के लिए अधिकाधिक स्त्री-पुरुष खिचने लगे। सार्वजनिक संस्थाओं की ओर से उनसे प्रायः प्रार्थनाएं की जाने लगीं। दूसरी ओर उनकी बेचैनी भी बढ़ती गई। यहाँ तक कि अन्त में उन्होंने पुनर्विवाह करने का विचार कर लिया। पहले उनकी इच्छा दूसरा विवाह करने की न थी। उन दिनों इसे कुछ अनुचित भी माना जाता था। प्रायः प्रतिष्ठित पुरुष दूसरा विवाह न करते थे। किन्तु शांतनु को यह बाधा न रोक सकी। अन्त में उन्होंने एक दिन एक पर्चे पर कुछ सांकेतिक वाक्य लिख कर उस युवती के पास भेज दिया और ध्यान पूर्वक देखते रहे कि उसे पढ़कर वह क्या करती है। युवती भी समझ गई। किन्तु न तो उसने स्वीकृति का ही भाव दिखाया न अस्वीकृति का ही। उसने पढ़कर और मानों शांतनु को दिखाकर ही उनके पत्र के छोटे-छोटे टुकड़े कर डाले और उन्हें फर्श पर फैंक कर

बाहर चली गई। साथ ही फिर उसका सभाओं में भी आना बन्द होगया।

किन्तु वह आये या न आये, शांतनु अवश्य महिलाओं के वर्ग पर एक बार दृष्टि डालते थे। उनकी आंखें अपने विषय का खोज किये बिना न मानती थीं। अन्त में कई मास बाद एक दिन वह युवती फिर दिखाई दी। शांतनु ने भी उसे देखा। देखा, इस बार उसकी मुख-मुद्रा पहले की तरह गंभीर नहीं है। इस बार उसपर एक मधुर मुस्कराहट की रेखा लहरा रही है। यह देख कर उनका मन फिर विह्वल हो उठा किन्तु क्या करते! बल प्रयोग तो उनके युग में शत्रु पर भी आपद्धर्म था और प्रजा के लिए तो वह सर्वथा ही वर्जित था। उस युग में शासनेतर मामलों में प्रजा राजा को भी एक साधारण व्यक्ति की ही दृष्टि से देखती थी। लाचार शांतनु ने फिर एक चिट्ठी लिखी और उससे कुछ क्षण के लिए साक्षात्कार की प्रार्थना की। दूत चिट्ठी लेगया। सभा अपने कार्य में व्यस्त थी। शांतनु की दृष्टि युवती की ओर लगी थी। युवती ने पत्र लिया और पढ़ा। पढ़कर उसके ओष्ठों पर फिर एक मुस्कराहट की रेखा दौड़ गई। किन्तु उसने उत्तर कुछ नहीं दिया था मात्र-पत्र को अपनी कचुकी में रखलिया और चली गई।

* * *

धीरे-धीरे कई मास बीत गए। इस बीच में शांतनु ने युवती के माता-पिता का पता लगा लिया। किन्तु इससे क्या? उस युग में माता-पिता ही लड़की के सर्वे-सर्वा न होते थे। विवाह में लड़की की सम्मति अनिवार्य थी। अन्ततः एक दिन जब शान्तनु आखेट से लौट रहे थे तब उन्हें वह बाला गंगातट पर फिर मिली। वह उन्हें देखकर जाना ही चाहती थी कि शांतनु ने कहा, "बोले! ठहरो, तुमसे एक बात कहनी है।"

युवती संकुचाती हुई सिर नीचा किये खड़ी हो रही। शांतनु ने निकट जाकर पूछा, "तुम्हें मेरे पत्र मिले थे ?" युवती ने सिर हिलाकर स्वीकार किया।

शान्तनु ने फिर कहा, "उनका भाव तो तुम समझ ही गई होगी।"

युवती ने फिर सिर हिलाया!

शांतनु बोले, "तो उनका क्या उत्तर है ?"

युवती मानों लज्जा से और झुक गई। कुछ क्षण तक वह कुछ भी न बोली। किन्तु शांतनु बिना उत्तर लिए टलने वाला न था। अन्त में युवती ने साहस करके कहा, "क्षमा कीजे! मैं उस प्रेम की अधिकारिणी नहीं हूँ। मेरी प्रार्थना यही है कि आप मुझे भूल जाइये।' युवती जाने लगी। शान्तनु अधीर हो उठे। बोले, "ठहरो! ठहरो? तुम नहीं जानती हो इस अस्वीकृति का कितना भयंकर परिणाम होगा।"

सुनकर युवती घूमकर खड़ी हुई। शांतनु ने देखा, उसकी आंखें अश्रुपूर्ण हो रही हैं। वह बोली, "राजन्? मेरी फिर प्रार्थना है कि मुझे अपने ध्यान से निकाल दीजिये। यह मैं अपने हित की दृष्टि से नहीं, आप के हित की दृष्टि से कह रही हूँ?" शान्तनु ने कहा, "यदि तुम्हारा अभिप्राय यह है कि तुम गरीब धीवर की कन्या हो—तो यह बाधा नगण्य है!"

युवती बोली, "नहीं! यह तो मैं जानती हूँ कि गरीबी या जाति सामाजिक दृष्टि से ऐसे कामों में बाधक नहीं है। मेरे कथन का कारण दूसरा है!"

शान्तनु ने कहा,— "तो मैं उसे जानने पर ही किसी निर्णय पर पहुँच सकता हूं!"

सुनकर युवती मानो कुछ चिंता मग्न होगई। शान्तनु ने देखा, उसकी उस चिन्ता मग्नता में भी एक अनोखी छटा थी। अन्त में युवती ने एक दीर्घ निश्वास छोड़कर कहा, "अच्छी बात है। कल आप को मेरा पत्र मिलेगा!" कहकर युवती तेज़ी से चल पड़ी। शांतनु भी जब तक वह दृष्टि से ओझल नहीं हुई तब तक तो खड़े उसे देखते रहे, फिर धीरे-धीरे नगर की ओर अग्रसर हुए।

(४)

दूसरे दिन शान्तनु को युवती का पत्र मिल गया। उसका नाम मत्स्योदरी था। वह हरिदास धीवर की कन्या थी। पत्र में उसने बतलाया था कि उसने अपने कौमार्य में एक भीषण भूल कर डाली है। उसके फलस्वरूप उसे एक सन्तान हो चुकी है और यद्यपि इस बात को कोई नहीं जानता, तथापि न तो वह इसे छिपाकर अनुचित लाभ उठाना चाहती है न अपने संसर्ग से शान्तनु के पवित्र जीवन पर धब्बा लगाना चाहती है।

किन्तु इसका प्रभाव उल्टा हुआ। शांतनु उसकी सत्यनिष्ठा और साहसिकता पर और भी अधिक मुग्ध हो गए। उन्होंने उसे दूसरे दिन उसी स्थान पर फिर मिलने को लिखा।

दूसरे दिन शान्तनु मधूक और दूब निर्मित माला (पूर्वकाल में महुए की माला स्वीकार करना प्रणय स्वीकृति का चिन्ह माना जाता था।) लिये नियत स्थान पर पहुँचे। युवती भी आ पहुँची। शांतनु ने माला लेकर हाथ ऊंचा किया। किन्तु मत्स्योदरी ने अश्रुपूर्ण नेत्रों से उन्हें रोक दिया। शांतनु बोले, "मैं उस लांछन की परवाह नहीं करता। संसार में कौन भूल नहीं करता? क्या पुरुष ऐसी भूलें करने पर स्त्रियों में त्याज्य गिन लिये जाते हैं?"

मत्स्योदरी ने कहा, "जन साधारण की दृष्टि से कोई बात भले ही न हो, आप राजा हैं। मैं यह कभी सहन न करूंगी कि मेरे कारण

आप पर कोई लांछन लगे !" उस की आंखों से अश्रुओं की झड़ी लग गई ?

शान्तनु बोले, " इस विचार को हृदय से निकाल डालो ! जो बाला अपने अनजाने दोष को भी प्रगट करने में भय नहीं खाती उसके संसर्ग से किसी को धब्बा नहीं लग सकता। उसके संसर्ग से तो उल्टा पापों का नाश होता है !" शान्तनु ने फिर हाथ बढ़ाया।

किन्तु मत्स्योदरी ने उसे फिर रोका। बोली, " अविचार न कीजिये ! मैं नहीं चाहती कि आप को पीछे पश्चाताप करना पड़े।"

किन्तु शांतनु ने नहीं माना। बोले, " मैंने भलीभांति विचार कर लिया है। प्रथम तो समाज इतना अविवेकी नहीं है, किन्तु हो तो मैं तुम्हारी अपेक्षा उसे त्यागना अच्छा समझूंगा।" उन्होंने माला मत्स्योदरी के गले में डालदी। मत्स्योदरी का हृदय भी पानी पानी होगया। उसे रोमाञ्च हो आया। वह कुछ क्षण नीची आंखें किये खड़ी रही, फिर बोली, " अच्छी बात है, जैसी आप की इच्छा। अब आप पिताजी से मिल लें।"

* * *

इस प्रकार एक बाधा दूर हुई। शान्तनु आनन्दित होते और नए नए मंसूबे बांधते अपने प्रासाद की ओर लौटे। किन्तु हरिदास ने एक दूसरा बखेड़ा खड़ा कर दिया। वह बोला, " मत्स्योदरी से विवाह करना हो तो यह प्रतिज्ञा करिये कि आप के बाद राज्याधिकारिणी मत्स्योदरी की सन्तति होगी।"

हरिदास की इस शर्त ने राजा को घपले में डाल दिया। इस में शक नहीं कि उन दिनों दूसरी जाति की लड़कियां तभी किसी के साथ विवाह करती थीं जब उन्हें और उनकी उन्नति को सवर्ण स्त्री और सन्तति के बराबर सम्पत्ति और अन्य अधिकारों में भाग देना स्वीकार कर

लिया जाता था, किन्तु हरिदास का दावा तो राजगद्दी के लिये था। दूसरी अवस्था में इसमें कोई बाधा न होती। किन्तु शान्तनु की पहली रानी का एक पुत्र शीलगांगेय मौजूद था। वह योग्य भी था। क्या शारीरिक बल में और क्या बुद्धि बल में वह प्रायः अद्वितीय गिना जाता था। ऐसी अवस्था में वे उसके अधिकार को कैसे बेच सकते थे? अवश्य ही आज ये मत्स्योदरी पर इतने अनुरक्त थे कि उसके लिए प्राण तक दे सकते थे। किन्तु न्याय तो प्राणों से भी अधिक प्रिय वस्तु है। क्षत्रिय प्राण देसकता है पर अन्याय नहीं कर सकता। इसीलिये इस बाधा ने उन्हें किंकर्त्तव्य विमूढ़ कर दिया। वे चुप हो रहे।

हरिदास भी उनकी कठिनाई को समझ गया, किंतु अपनी बात पर दृढ़ रहा। उसका भी पितापद का कर्त्तव्य उसे अपने पक्ष पर डटे रहने को प्रेरित कर रहा था। फलतः शान्तनु के आशा कमल पर एक दम तुषार वर्षा होगई। वे प्रायः चिन्तित और उद्विग्न रहने लगे। इस रहस्य को सब तो जानते न थे। एक दो विश्वस्त अनुचर ही जानते थे। अतः किसी को कुछ पता न लगा। किन्तु ऐसी व्यथा छिपी कैसे रहती! शान्तनु दिन दिन उत्साह हीन और तेजहीन होने लगे। उन का मुख रोगी का सा होचला। उनकी वक्तृताओं में नीरसता झलकने लगी। काम से अरुचि होगई। वे प्रायः एकान्त में पड़े रहते। एकाधबार उनके मन में आई कि इस ओर मत्स्योदरी का ध्यान आकर्षित करें, किन्तु साहस नहीं हुआ। सोचा, "इस प्रस्ताव पर वह क्या कहेगी? सोचेगी, "यह कैसा प्रेम है जिसमें अपने स्वार्थ का ध्यान बना हुआ है? क्या मैं सर्वस्वार्पण नहीं कर रही हूं!"

* * *

धीरे धीरे पिताकी इस दशा ने शीलगांगेय का ध्यान आकर्षित किया। उसने एक दो बार कारण जानने के लिए पिता से कुछ प्रश्न भी किये, किन्तु शांतनु ने उड़ाऊ उत्तर देकर बात टाल दी। शीलगांगेय

चुप होरहे। किन्तु कब तक चुप रह सकते थे! पिता की अवस्था में कोई सुधार न था। वे कुछ चिकित्सा भी न कराते थे। फलतः चतुर शीलगांगेय के मन में भीषण शंका उठ खड़ी हुई। उन्होंने सोचा, "अवश्य इसके मूल में असह्य मानसिक कष्ट है। किन्तु ऐसा कष्ट क्या होसकता है? इन्हें किस बात की कमी है! प्रजा का प्रेम प्राप्त है। सन्तान प्राप्त है। सत्यवादी और न्यायनिष्ठ होने की कीर्ति प्राप्त है। राजधर्म के पूरे ज्ञाता हैं। स्वार्थ से मुक्त हैं और इससे अधिक राजा को चाहिए क्या!"

* * *

शीलगांगेय ने खोज-पूछ शुरू की। उनके विश्वस्त अनुचरों से बात-चीत की। अनुचरों ने भी देखा कि इस भेद को छिपाने से हानि ही होरही है। राजा तो ऐसा प्रस्ताव अपने मुख से प्राण रहते करेंगे नहीं। अतः कहदेना ही ठीक है। कदाचित् शीलगांगेय कोई मार्ग निकाल सके।"

फलतः उन्होंने सारा रहस्य शीलगांगेय पर प्रकट कर दिया। सुनकर शीलगांगेय हंसे। बोले, "बस! इतनी सी ही बात है! क्या मैं इतना सा त्याग नहीं कर सकता!"

अनुचर बोले, "आप तो सब कुछ कर सकते हैं किन्तु वे इतना बड़ा त्याग आप से कैसे चाह सकते हैं। आखिर राज्य का प्रश्न है।"

शीलगांगेय ने कहा, "राज्य का प्रश्न है तो क्या हुआ? राज्य में क्या है? केवल नाम को ही श्रेष्ठता है न? अन्यथा राजा से साधारण गृहस्थी अच्छा। गृहस्थी को एक घर की चिन्ता रहती है और राजा को सारे राज्य की। एक भी प्रजाजन को कष्ट हो तो उसे नर्क जाना पड़ता है। एक भी अधिकारी अन्याय करे तो उसका फल उसे भोगना पड़े। ऐसे गम्भीर दायित्व को त्यागने में तो मनुष्य को और प्रसन्नता ही होसकती है।"

अनुचर बोले, "सो तो ठीक है, किन्तु योग्य उत्तराधिकारी चुनने का भी तो भार उन्हीं पर है। आप को उन्होंने सब प्रकार योग्य बनाया है। उसकी सन्तति को वे योग्य बना सकें या न बना सकें। तब यदि वह अयोग्य निकली तो उसका पाप भी तो उन्हें ही लगेगा।"

शीलगाँगेय बोले, "यह भ्रम है। प्रत्येक व्यक्ति जीवन रहते तक अपने कर्त्तव्य पालन का जिम्मेदार है। भविष्य न उसके हाथ में है न उसके फलों का वह अधिकारी होसकता है। फिर वे अयोग्य निकलेंगे तो प्रजा स्वतः उन्हें कान पकड़ कर निकाल देगी! अच्छा—तुम हरिदास को बुला भेजो।"

(५)

यथा समय हरिदास शीलगाँगेय से आकर मिला। शीलगांगेय ने कहा, "मैं प्रतिज्ञा करता हूं कि मैं राजगद्दी स्वीकार नहीं करूंगा और मत्स्योदरी के पुत्र को अपने पिता का उत्तराधिकारी मानूंगा।"

हरिदास को इससे बड़ा सन्तोष हुआ। उसने गांगेय के त्याग की सराहना की, किन्तु वह था बड़ा कुतर्की। बोला, "एक बात और है।"

"वह क्या?" शीलगांगेय ने उत्सुक होकर पूछा।

हरिदास कुछ चिन्ता सी दिखाता हुआ बोला, "आप के बाद आपकी सन्तति गद्दी का दावा कर सकती है।"

गांगेय हंसे। बोले, "भाई बड़ी दूर की सूझी! मैंने तो इस बात की कल्पना भी न की थी। अच्छा, मेरी दूसरी प्रतिज्ञा यह है कि मैं आजन्म ब्रह्मचारी रहूंगा! ऐसी अवस्था में जब सन्तान ही न होगी तो दावा कौन करेगा?

हरिदास गांगेय के इस अनुपम त्याग को देखकर चकित होगया उसने उनके चरण पकड़ लिये। बोला, "आप वास्तव में मनुष्य शरीर में देवता हैं। मेरे अज्ञान को क्षमा करिये।"

गांगेय ने उसे प्रेम से हृदय लगाया। फिर कहा, "तुमने कुछ भी अनुचित नहीं किया है। अपनी सन्तान का हित कौन नहीं चाहता! यह तो तुम्हारा कर्त्तव्य था।"

* * *

अन्त में बात पक्की होगई। शान्तनु को भी इसकी सूचना मिली। सुनकर उन्हें बड़ा खेद हुआ। वे अपनी काम लिप्सा को धिक्कारने लगे। इसी समय गांगेय आ पहुँचा।

शांतनु ने कहा, "गांगेय! यह तुमने क्या कर डाला? ऐसी तुच्छ बात के लिए इतना बलिदान?"

गांगेय बोला, "मेरे लिए पिता की प्रसन्नता तुच्छ बात नहीं, सबसे बड़ा धर्म है। आप इसका दुःख न कीजिए। मेरे इस कार्य से राज्य का कोई अकल्याण न होगा।"

* * *

उधर मत्स्योदरी को जब यह मालूम हुआ, तो वह भी अपने पिता पर बहुत बिगड़ी। उसने कहा, "जहां इतनी धर्मनिष्ठा है वहां इतनी सावधानी की क्या आवश्यकता थी।"

उसने शीलगांगेय को बुलाया और अपनी प्रतिज्ञा वापस लेने को समझाया। किन्तु शीलगांगेय अटल रहे। बोले, "माता! क्षत्रिय का वचन झूटा नहीं होता। आप मुझे ऐसा आदेश क्यों देती हैं?"

मत्स्योदरी ने कहा, "मैं आपको गोद लेती हूं। आप मेरी सन्तान की तरह राजगद्दी लेना स्वीकार करें। मैं अपनी सन्तान के लिए किसी के न्यायाधिकारी का घात नहीं सह सकती।"

शीलगांगेय ने फिर समझाया, किन्तु मत्स्योदरी की ग्लानि दूर नहीं हुई।

अन्त में शीलगांगेय ने वचन दिया कि यद्यपि वे राज्याधीश्वर नहीं बनेंगे, तथापि मत्स्योदरी की सन्तानों के उपस्थित रहते भी राज्य-रक्षा और शासन संचालन का दायित्व अपने ऊपर उतना ही समझेंगे, जितना वे स्वयं राजा होने की अवस्था में समझते।

उधर मत्स्योदरी ने भी अपने मन में संकल्प कर लिया कि वह सदा शीलगांगेय को अपनी संतान से भी अधिक प्रिय और विश्वस्त समझेगी और उन्हें शान्तनु के तिलक हीन राज्याधिकारी बनायेगी।"

इसका फल भी अद्भुत हुआ। उसी घड़ी से शीलगांगेय और मत्स्योदरी के अटूट स्नेह पाश में बंध गये।

८-अबला का बल

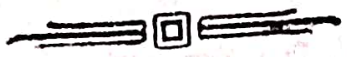

बाबू गोविन्दलाल की साध आखिर पूरी होगई। उन्हें सुशिक्षिता पत्नी मिल गई। सुशिक्षिता ही नहीं वह सर्वगुण संपन्ना है। वह मैट्रिक तक अंग्रेजी और हिन्दी पढ़ी हुई है। अपूर्व सुन्दरी है। व्यवहार चतुर है। गृहकार्यों में दक्ष है। शिक्षित होकर भी श्रम शील है। भोजन बनाना, वस्त्र सीना, कसीदा निकालना—कोई काम ऐसा नहीं जो उसे न आता हो। गोविन्दलाल चाहते भी ऐसी ही पत्नी थे और यही कारण है कि उनका विवाह इतनी देर से हुआ।

किन्तु अब एक ओर असमंजस खड़ा होगया है। गोविन्दलाल को वेतन ६०) रु० मासिक मिलता था। समाज में भी उनकी खासी प्रतिष्ठा थी। वे अच्छे वक्ता थे और सामाजिक हलचलों में भी खूब भाग लेते थे। इन्ही कारणों से उन्हें सुशिक्षिता से विवाह करने का शौक चर्राया था। किन्तु वे स्वयम् अपठित थे। वे तमाखू तो प्रगट रूप से पीते ही थे, गुप्त रूप से वारूणी सेवन भी करते थे। एक रामप्यारी नामक वेश्या से भी हिले-मिले थे। हिले मिले क्या थे, जिस दिन वारुणी की प्यास बुझानी होती उस दिन रात वहीं बिताते थे। मुहल्ले में तो प्रायः सब सुधार प्रेमी रहते थे। माता भी इन बातों से घृणा करती थीं। लेकिन कालिन्दी से विवाह होने पर यह सम्भव नहीं रहा। अब जिस दिन बाहर रह जाते, उसी दिन दोनों ओर से जवाब तलब होता। वास्तव में अब वे वेश्या से विरत हो भी सकते थे, किन्तु मदिरा का चस्का छूटना कठिन था। इसीलिए पहले तो उन्होंने अपनी नव-शिक्षिता पत्नी कालिन्दी को इस ढर्रे पर लगाना चाहा, किन्तु जब वह पंजे में न आई तो बेचैन हो उठे। वारुणी की प्यास बुझाने के लिये

रामप्यारी के यहां जाना अनिवार्य था और पत्नी के रहते यह दुष्कर था।

इसके सिवाए एक और कठिनाई थी। विवाह के पहले वे पर्दे के विरोधी थे। अपने घर पर्दा न रखने के भी इच्छुक थे। यहां तक कि अपनी माता को भी उन्होंने अपने विचारों में रंग लिया था। वे वृद्धा होने से वैसे भी पर्दा कम करती थीं, पुत्र के आग्रह से रहा सहा भी उठा दिया था। किन्तु अब कालिन्दी को देखकर उनके विचार बदल गए। उन्होंने सोचा, " इस सोने की शलाका को पर्दे से बाहर रखना तो खतरे को खुद बुलाना है। अजी, बड़े बूढ़े पागल थोड़े ही थे। आखिर उन्होंने इस रिवाज को सोच समझ कर ही चलाया था।'

मनुष्य बड़ा स्वार्थी होता है। वह अपनी साधारण वस्तु में भी दूसरे को भागीदार नहीं बनने देना चाहता। अपने सिवाए किसी का भरोसा नहीं करता। फिर गोविन्दलाल के लिए तो एक और भी कारण था। उसका मदिरा-प्रेम और रामप्यारी के यहां आना जाना तभी दबा रह सकता था, जब कालिन्दी पर्दे में रहे। इसीलिए उन्होंने कालिन्दी को आते ही पर्दे में रखना शुरू कर दिया।

किन्तु कालिन्दी के लिए यह सम्भव न था। वह स्वयम् तो नए विचारों से ओत प्रोत थी ही, गोविन्दलाल के साथ उसका विवाह भी इसी आधार पर किया गया था कि वह सुधारक और नये विचारों की है। फिर वह स्वाभिमानी परले सिरे की थी। इसीलिए उसे यह अविश्वास और भी असहय हो उठा। उसने सोचा " ओह! ये मुझे इतनी गई बीती समझते हैं। मानों मैं मनुष्य ही नहीं हूँ, मुझे अपनी पवित्रता का कुछ ध्यान ही नहीं है।" फिर जब उसने देखा कि पतिदेव का आधा वेतन भी घर में नहीं आता और एक महीने से दूसरा महीना कठिनता से पकड़ा जाता है। यहां तक कि वह जो वस्तुएं प्रेम-पूर्वक

पति के लिए तैयार करती है, वे भी प्रायः गायब हो जाती हैं। तब उसके मन में अनेक आशंकायें उठने लगीं।

फिर भी वह समझदार थी। अतः महीने दो महीने चुपचाप गोविन्दलाल की आज्ञाओं का अनुसरण करती और तारतम्य देखती रही। सोचा, "सम्भव है कुछ दिन में मेरी भक्ति और प्रीति इनके भावों में परिवर्तन करदे।"

* * *

किन्तु कब तक? आखिर सन्तोष और प्रतीक्षा की भी सीमा है। तिस पर गोविन्दलाल का सारा वेतन और उसे खर्च करने का अधिकार अपने ही हाथ में रखना भी असह्य था। शंकाएं तो थी हीं। उसने एक दो बार गोविन्दलाल से अपना समाधान करना चाहा, किन्तु उसका ढंग और शंकाएं बढ़ाने वाला था। आज रूमाल बनता कल खोजाता आज बढ़िया कसंदा निकाल कर ओढ़ने का चादरा तैयार किया जाता और चौथे दिन उसका पता न लगता। पूछने पर उड़ाऊ जवाब मिलता।

अन्त में जब इसी प्रकार छह महीने बीत गए तब विवश होकर कालिन्दी ने सास पर अपने मनोभाव प्रगट किये। सास तो स्वयं ही इन बातों के विरुद्ध थी। उसे सब पता भी था। बहू से इसीलिए न कहती थी कि व्यर्थ घर में कलह होगी। किन्तु अब जब बहू ने स्वयम् प्रश्न उठाया तब उसका सहानुभूतिपूर्ण हृदय अपने भावोंको न छिपा सका। उसने स्पष्ट शब्दों में तो नहीं, गोलमोल भाषा में कालिन्दी की शंकाओं का समर्थन किया। बोली, "क्या करूं बहू जिधर का भेद खोलें उधर से अपने ही घर को लज्जित होना पड़ता है। इधर कुआं उधर खाई। पर सच तो यह है कि जब तक गोविन्द की मदिरा न छूटेगी तब तक यही दशा रहेगी।"

कालिन्दी बोली, "तो आप उन्हें विरत क्यों नहीं करती!"

वृद्धा बोली, "मैं तो बीसियों दफा कहकर थक गई। नहीं मानता तो क्या करूं ? मुझे कितने दिन जीना है। आज मरी कल दूसरा दिन। जो करेगा सो भरेगा।

कालिन्दी— "नहीं अम्माजी ! ऐसा भी कहीं होसकता है ? कौन मां-बाप अपनी सन्तान को कुराह पर जाने देता है !"

वृद्धा—जब बस न चले तो क्या करूं बेटी ? रुपये पैसे अपने हाथ में रहते हों तो न दूं। पूछ कर काम करता हो तो रोकूं। पर यहां तो दोनों ही बातें नहीं। कहूँ तो और मुफ्त घर में कलह हो।

कालिन्दी—क्या हर्ज है, एक बार कलह होकर भी यह झगड़ा मिट जाये तो अच्छा ही है न ?

फिर पर्दे की बात चली। कालिन्दी बोली, "मैं मानती हूँ कि पर्दा प्रथावाली स्त्रियों को स्वतन्त्रता के क्षेत्र में फूंक २ कर पैर रखना चाहिए। जहां पुरुष समाज में जाना हो, वहाँ प्रौढ़ बुद्धि होने तक पति या किसी अन्य कुटुम्बी को साथ लेकर जाना चाहिए। किन्तु ये तो स्त्रियों तक में जाने पर आपत्ति करते हैं।

वृद्धा ने कहा—इस बारे में भी अभी अभी इसे न जाने क्या होगया है। पहले तो दिन-रात पर्दे की बुराई ही बुराई किया करता था !

कालिन्दी--तो फिर क्या करना चाहिए। मैं तो समझती हूं कि बाहर की बुराइयों से हम लोग अपरिचित रहें, इसीलिए यह चाल है।

वृद्धा:--यह तो प्रगट ही है बेटी। किन्तु उपाय क्या है ? कम से कम मुझे तो कुछ नहीं सूझता। मैंने तो इसीलिए सब तरफ से आंखें मींच रक्खी हैं। वृद्धा की आँखों में आंसू छलछला आये ?

तो मैं अब मैं उग्र उपायों से काम लूं ?

वृद्धा ने कहा— "ना बेटी ! जाने दो, मुझसे तुम्हारे ये कष्ट नहीं देखे जाते। कभी बुराई का बुरा फल मिलेगा तब आप ही सीधा हो जायेगा।

किंतु कालिंदी नही मानी। 'बोली, "नहीं माताजी ! अपना वश चलते तो उन्हें कुपथ से हटाना ही चाहिए, आप तो निस्संकोच होकर आज्ञा दीजिए। मेरे कष्टों की चिन्ता न कीजिए।"

वृद्धा बोली, "तू जाने बेटी ! तू पढ़ी लिखी हैं। तेरी इच्छा हो सो कर। इतना ही ध्यान रखना कि बाहर बात न जाये। घर का नाम बदनाम न हो !"

कालिन्दी बोली, "इस बात से आप निश्चिन्त रहिए। घर का ध्यान क्या मुझे नहीं है ?"

वृद्धा ने कहा, "तो अच्छी बात है। मेरी ओर से तो इजाजत ही है। हां, मैं चली जाऊं तब करना ! मैं कल ही अपने भाई से मिलने जा रही हूं ! मुझ से यह सब देखा भी नहीं जाता !" वृद्धा दूसरे दिन चली भी गई।

* * *

इधर कालिन्दी ने घर में काम काज से हाथ खींच लिया। यहां तक कि भोजन भी नहीं बनाया। न स्वयम् खाया न पति के लिए तैयार किया। किन्तु फल उल्टा हुआ। गोविन्दलाल अब तक मूर्ख ही बना था, अब दुष्ट बन गया। इसमें गोविन्दलाल का भी सारा दोष न था। दोष था उसकी नौकरी का। सरकारी नौकर हुकुमत पसन्द बन जाते हैं। उन्हें दूसरों की अपनी इच्छानुसार चलाने की आदत सी पड़ जाती है। इसीलिए उन्हें अपनी अनुचित बात पर भी हठ होता है और जब कोई उसे नहीं मानता तो उन्हें क्रोध आता है। विवेक से तो वे तभी काम लेते हैं जब विवश कर दिये जायें।

अब गोविन्दलाल स्वयम् तो बाजार से पेट भर लेता और कालिन्दी को दिन रात भूखी प्यासी ताले में बन्द रखता। यहां तक कि कि कई दिन बीतने पर कालिन्दी भी अस्थिर हो उठी। उसका गोविन्दलाल की मनुष्यता पर से प्रायः विश्वास उठ सा गया। यह स्वाभाविक भी था। आखिर मनुष्य मनुष्य ही है। उसकी सहन-शक्ति की भी सीमा है। कहा भी है, "अति संघर्षण करै जो कोई-अनल प्रगट चन्दन ते होई?" किन्तु साथ ही कालिन्दी को अपने घर की नेकनामी का सबसे बड़ा ध्यान था। अतः उसने स्वयम् ही कुछ कर डालने का निश्चय किया। बात बाहर न जाने देने की फिर भी सावधानी रक्खी।

* * *

सब से पहले पर्दे ही का प्रश्न छिड़ा। गोविन्दलाल ने भी अपनी रही हुई दलीलें सुनाईं। लोगों की बुरी नीयत की कथायें गाईं। वायुमण्डल का रोना रोया। पर बनावट कहां तक चल सकती है। कालिन्दी ने सब तर्कों का खण्डन कर दिया। परन्तु इससे क्या! वहां दलीलों का प्रश्न ही कहाँ था! वहां तो प्रश्न स्वार्थ का था। इसलिए कुछ फल न निकला।

अब कालिन्दी को और भी बुरा लगने लगा। बुरा लगने की बात भी थी। अविश्वास के सिवाए और कोई इसका कारण नहीं दिखाई देता था और अपने ऊपर अविश्वास किसे सहन होता है?—विशेषतः जब वह सच्चा हो। फिर कालिन्दी तो पर्दा प्रथा के विरुद्ध शिक्षा पाई हुई थी। उसके माता-पिता अध्यापक, पड़ौसी सब पर्दा प्रथा के विरोधी थे। उसने सोचा, "यह सब क्यों? जब स्त्रियां पुरुषों के लिए इतनी चिन्ता नहीं करतीं तो पुरुष उनके लिए क्यों करें! जब स्त्रियां पुरुषों का विश्वास करती हैं तो पुरुष उन्हें क्यों विश्वस्त नहीं गिनते! क्या इन्हें अपनी इज्जत का ख्याल नहीं है?"

(२)

अन्त में कालिन्दी का हृदय विद्रोही हो उठा। उसने अपने अधिकार पर आग्रह करने का निश्चय कर लिया और पड़ौसियों के यहां जाना आना प्रारम्भ कर दिया। गोविन्दलाल यह देख कर बेतरह झल्लाये। बाहर तो कुछ बोले नहीं। आखिर सुधारक प्रसिद्ध थे। हां घर में आते ही बड़बड़ाना और कालिन्दी को धमकाना शुरू कर दिया। पर कालिन्दी ने कुछ उत्तर नहीं दिया! हां, उधर भोजनादि के पश्चात् जब गोविन्दलाल का क्रोध कुछ शांत होगया तब कालिन्दी ने भी बात छेड़ी और उसे नम्रतापूर्वक अपने कार्य का औचित्य समझाना चाहा। किन्तु व्यर्थ। गोविन्दलाल समझने के स्थान पर उल्टा धमकियां देने लगा।

लाचार कालिन्दी को भी निष्क्रय प्रतिरोध का ही सहारा लेना पड़ा। वह बराबर कार्य से छुट्टी मिलने पर पड़ौस की स्त्रियों के यहां जाती। हरेक को कुछ न कुछ सिखाने की चेष्टा करती। गोविन्दलाल भी नित्य बकता झकता। किन्तु कालिन्दी कोई उत्तर न देती और वह करती भी क्या! उसे पति से द्वेष न था, पर वह दासीपन भी स्वीकार न कर सकती थी। वह स्वाभिमानी गृहिणी की तरह रहना चाहती थी।

किन्तु पुरुषों में सहन-शक्ति कहां? वे बाहर सुधारक और प्रजातन्त्रवादी होते भी घर में तो अत्याचारी ही रहते हैं। इसीलिए इस सत्याग्रह से द्रवित और लज्जित होने के बदले गोविन्दलाल और क्रुधित हो उठा। उसने कालिन्दी को दो चार लात घूंसे जमा दिये। किन्तु धन्य कालिन्दी, उसने उफ तक न की। हां, साथ ही अपना ढंग भी न बदला। मुहल्ले से बाहर या पुरुषों में वह अब भी न जाती थी। स्त्रियों में ही जाती थी, किन्तु जाती अवश्य थी। इधर गोविन्दलाल को भी अधिक जिद चढ़ी। यहां तक कि एक दिन दफ्तर जाते समय उसे

वह ताले में बन्द कर गया। संयोगवश उस समय बाधा देने को उसकी माता भी वहां न थी। वह किसी पड़ौसी के यहां गई हुई थी।

* * *

कालिन्दी को भी मर्णान्तक दुःख हुआ। वह प्रायः दिन भर अंधेरे घर में बैठी रोती रही। उसे इन सब बातों पर अचरज भी हो रहा था और दुःख भी। कभी वह सोचती थी कि क्या यह वही गोविन्दलाल है जिसका उसने पर्दे के विरुद्ध भाषण सुना था! जो स्त्रियों की स्वतन्त्रता के लिए रक्त बहाने की तैयारी दिखाया करता था। यदि वही हैं तो घर में उसका यह रूप क्यों है? और यह सब है किसलिए? केवल इसलिए न, कि मैं एक अनुचित प्रथा को स्वीकार नहीं करती हूं? अपने विश्वास के अनुसार चलना चाहती हूं?" एक बार उसका इरादा हुआ कि कल ही पीहर चली जाऊं और सारी कथा माता-पिता को सुनाऊं? किन्तु दूसरे ही क्षण उसका विचार पलट गया। सोचा, "पति की शिकायत दूसरी जगह करना क्या अच्छी बात है!" तब? आखिर यह अवस्था भी कब तक सही जा सकती है? साधारण सत्याग्रह से भी ये मानते दिखाई नहीं देते।' इसी समय बुढ्ढा आ पहुँचा। वह भी बहू को बन्द पाकर दुखित हुई। फिर दोनों में बातें चली। कालिन्दी ने कहा, "माताजी आप मुझे आज्ञा दें तो मैं कुछ नये उपायों से काम लूं।"

(३)

अब नया नाटक छिड़ा। दूसरे दिन बिना मान मनौवल ही कालिन्दी काम काज करने लगी। गोविन्दलाल भी अपनी विजय पर प्रसन्न हुआ। किन्तु यह प्रसन्नता अधिक न रही। दूसरे दिन वह घर में बैठा भोजन कर ही रहा था कि कालिन्दी ने बाहर से किवाड़ बन्द कर ताला लगा दिया। गोविन्दलाल ने क्रुधित होकर कारण पूछा तो उत्तर मिला, "अब तुम्हें पर्दे में रहना होगा। मुझे तुम्हारे ऊपर विश्वास

नहीं है। गोविन्दलाल पहले तो चकराया। उसे अपनी आंखों पर विश्वास नहीं हुआ। किन्तु जब उसे मालूम हुआ कि यह वास्तविकता है, तो बड़ा क्रोधित हुआ। खूब हाथ-पैर पीटे, धमकियां दीं। उछला कूदा। पर सब व्यर्थ। कालिन्दी बाहर चली गई। गोविन्दलाल दिन भर कैद रहा। न दफ्तर जा सका न शांति से रह सका। उसे क्रोध आता था, किन्तु कुछ वश न था। चिल्ला भी न सकता था। सोचता था, "चिल्लाऊं तो मुहल्ले वाले आयेंगे और जब उन्हें असलियत मालूम होगी तो मखौल के मारे जीना भारी कर देंगे।" फिर धीरे धीरे कालिन्दी को गालियां देता और अपने भाग्य को कोसता था। कालिन्दी भी बीच बीच में उसकी भुनभुनाहट सुनती रही पर बोली नहीं।

आखिर शाम के वक्त आकर कालिन्दी ने आवाज दी। सुन कर गोविन्दलाल को भी मान हो आया। उसने कुछ उत्तर नहीं दिया। कालिन्दी भी समझ गई। बोली, "बोलते हो या नहीं। अच्छा, नहीं बोलते तो जाने दो, मैं जाती हू, सुबह आऊंगी।'

सुनकर गोविन्दलाल के होश फाख्ता होगए। उसका मान हवा होगया। बोला, "खोलो न! यह क्या दिल्लगी हैं! गुस्सा तो ऐसा आ रहा है कि ---- ।

कालिन्दी बोली, "आप को एक ही दिन में इतना गुस्सा आ रहा है तो सोचिये दूसरों के जी पर इतने दिनों में क्या बीती होगी?"

सुनकर गोविन्दलाल चुप रहा। वह वास्तव में इस समय अपनी क्रूरता पर लज्जित हो रहा था। इसमें उसका दोष न था। कितने ही मनुष्यों को अपने बीतने पर ही दूसरों के कष्ट का अनुभव होता है। उधर कालिन्दी ने फिर कहना आरम्भ किया। सोचिये, "यदि आपकी बातों पर जाकर में अपने पीहर चली जाती और आप पर हब्स बेजा का दावा दायर करती तो आपकी क्या गति होगी! ---- आप को क्रोध

तो आ रहा है, किन्तु में आप से कह देना चाहती हूँ कि संभव है, इससे आगे मैं सहन न कर सकूंगी।"

गोविन्दलाल सन्नाटे में आगया। उसने अपने अपराध की गुरुता पर अब तक विचार ही न किया था। करता भी क्यों! विचार तो दण्ड या दायित्व—दो बातों के ही भय से होता है। जहां शिकार भेड़ की तरह सहन करने वाला हो वहां कौन उचित अनुचित का विचार करता है। इसी समय कालिन्दी ने किवाड़ खोल दिये। गोविन्दलाल भी कुछ क्षण तो स्तब्ध सा खड़ा रहा फिर सिर नीचा करके बाहर निकला। कालिन्दी ने कहा, "आप तो पर्दे के विरुद्ध व्याख्यान फट कारते थे, फिर अब ऐसा क्या होगया है जो आप उसके पक्षपाती बन गए है!" किन्तु गोविन्दलाल चुप ही रहा।

* * *

उस दिन से फिर गोविन्दलाल ने पर्दे का विरोध नहीं किया। अवश्य ही दो चार दिन वह उदास रहा। किन्तु धीरे धीरे जब क्रोध शांत होगया और उसे अपनी ज्यादतियों का ध्यान आया, तब उदासी जाती रही। उधर कालिन्दी भी फिर इस तरह नियमित रूप से पति सेवा और अन्य कार्य करने लगी, मानों कुछ हुआ ही न हो:—

* * *

किन्तु रुपयों का सवाल फिर भी ज्यों का त्यों था। इस सम्बन्ध में उसकी चाल वही रही और जब धीरे धीरे कालिन्दी को उसके असली कारण का पता लगा तब तो वह और भी बिगड़ी। बिगड़ना स्वाभाविक भी था। जब पुरुषों को स्त्री के दुराचार पर इतना क्रोध आता है तो स्त्रियों को क्यों न आये? फलतः फिर बहसें प्रारम्भ हुईं। इस बार कालिन्दी का पक्ष था भी प्रबल, किन्तु व्यसन भी कम प्रबल नहीं होता। इसीलिए उसकी बुराई स्वीकार करते हुए भी गोविन्दलाल उसे छोड़ नहीं सका। यहां तक कि लाचार होकर कालिन्दी को उसे फिर उस दिन

की घटना की याद दिलानी पड़ी। सुनकर गोविन्दलाल घबड़ा उठा। किन्तु ऊपर से क्रोध का भाव बना कर बोला, "कहीं ऐसा पागलपन मत करना! उसदिन तो मैं गम खागया था, अब नहीं मानूंगा।" किन्तु कालिन्दी पर इसका कोई प्रभाव नहीं हुआ। इसीलिए जब उसके अन्य प्रयत्नों का कोई असर नहीं हुआ तो उसने वही किया। गोबिन्दलाल फिर ताले में बन्द हुए। उन्हें क्रोध भी आया। बोले, "इस बार तो तुम्हारी जान लेकर छोड़ूंगा।"

कालिन्दी बोली, "कोई हर्ज नहीं, मैं भी सारे मुहल्ले के लोगों को बुलाकर फिर किवाड़ खोलूंगी।"

गोविन्दलाल सन्नाटे में आगया। कहा भी है, स्त्री का मारा कहीं बात नहीं करता! उसने सोचा, "मुहल्ले वालों को मालूम होजाए कि मुझे स्त्री ने ताले में रक्खा तो मेरा मरण हो जायेगा। किसी को मुंह दिखाने लायक भी न रहूंगा। परन्तु कालिंदी को यह मालूम होजाए तो वह और अकड़ जायेगी। उससे तो इससे उल्टा ही बताना चाहिये। इसलिए कुछ सोचकर बोला, "यह तो और भी अच्छा होगा। इतने गवाह हो जायेंगे, फिर सहज में तुमसे पीछा छूट जायेगा! मेरे भाग्य थे। शिक्षिता समझ कर मैंने आफत गले बांध लीं!" परन्तु कालिन्दी ऐसी भोली कहाँ थी! वह बोली, "अच्छा, तो आप अदालत में जायेंगे। तब तो और भी अच्छी बात है। अदालत भी तो जानेगी कि आप कैसे सुधारक है और यह कि दरअसल आप छुटकारा पाने लायक है या मेरी कैद में रहने लायक।"

गोविन्दलाल बोला, "बला से, अदालत जरा देर हंस लेगी और क्या होगा। तुमसे तो पीछा छूटेगा।

कालिंदी ने कहा, "इतनी तैयारी है तो अच्छी बात है। घबराइये नहीं, आपको अदालत तक जाने की तकलीफ न होगी। मैं यहीं पुलिस को बुलवाये लेती हूँ।" कहकर उसने बाहर जाने की सी आहट की। फिर क्या था।

गोविन्दलाल की हेकड़ी हवा होगई। वे तो भबकी बता रहे थे। वैसे ऐसी बात का प्रकट होना कौन चाहता है! कालिन्दी भी भबकी ही बता रही थी। किन्तु गोविन्दलाल को चाल चूक गई और कालिन्दी की चल गई। वह चिल्लाकर बोला, "नहीं नहीं, ऐसा बेहूदापन मत करना। दुनिया क्या कहेगी? हे ईश्वर! मैंने किस घड़ी में विवाह किया था?"

* * *

अन्त में गोविन्दलाल ने रामप्यारी के यहां न जाने का प्रण किया तब कालिन्दी ने किवाड़ खोले। किन्तु किवाड़ खोलते ही गोविन्दलाल कालिंदी पर डंडा लेकर चला। कालिन्दी भी मानो तैयार थी। बोली, "मेरे लगी नहीं और मैंने हल्ला करके मुहल्ला इकट्ठा कर सब कथा प्रकट की नहीं।"

सुनकर गोविन्दलाल का हाथ जहां का तहां रह गया। पाप भीरु होता है। वह लोकमत के प्रकाश को कहां सहन कर सकता है। कालिंदी को भी इस प्रकार पति को आतंकित करना अच्छा न लगता था, किन्तु वह विवश थी। उसे पति को सुधारना था और सुधार की यही एक मात्र कुंजी थी।

(४)

किन्तु गोविन्दलाल का क्रोध शांत नहीं हुआ। वह मुंह फुलाए बाहर चला गया। उसी समय कुछ पड़ौसी भी आगए और उसे देखकर बोले, "क्यों बाबू! आज दफ्तर नहीं गये क्या?" गोविन्दलाल बोला, "नहीं भाई! आज नहीं गया। तबियत कुछ खराब होगई थी।"

अब गोविन्दलाल घर में पैर न रखता। आता भी तो खाना बाहर के बरामदे में खाकर चला जाता। बिस्तर भी बाहर ही लेगया। कालिन्दी ने कई बार कहा, "आज तो खाना भीतर ही खालो न?" किन्तु गोविन्दलाल ने इंकार कर दिया।

कालिन्दी बोली, "घर छोड़े से भी काम चलता है क्या?"

बोले, " ऐसी तैसी घर की ! हम तो बिना घर ही अच्छे हैं। जिस घर में कैद होना पड़े वह घर किस काम का ?

* * *

इसी प्रकार कई दिन बीत गये। कालिन्दी भी कुछ नई योजना सोचने लगी। कारण, गोविन्दलाल अब भी चौथे पांचवें रोज रामप्यारी के यहां जाता ही था। सहसा एक दिन गोविन्दलाल को एक स्वयम् सेवक सभा में भाषण देने का आमन्त्रण देने आया। कालिंदी भी निकट ही खड़ी थी। गोविन्दलाल ने आमंत्रण अस्वीकार कर दिया। कालिंदी बोली, " इनकी तबियत ठीक नहीं है, हाँ तुम लोग चाहो तो आज मैं भाषण दे सकती हूँ !

स्वयं सेवक बोला, " देवी जी ! नेकी और पूछ-पूछ इससे अच्छी बात तो और हो ही क्या सकती है ? कहिये किस विषय पर भाषण देंगी ?"

कालिंदी ने कहा, " सुधारकों के सुधार पर।"

स्वयम् सेवक विषय नोट कर प्रसन्न होता हुआ चला गया। कालिन्दी भी घर में चली गई। किन्तु गोविन्दलाल के पेट में चूहे कूदने लगे। वह मन ही मन कुढ़ कर भाग्य को कोसने लगा। सोचा, " यह तो स्त्री क्या बला है। बड़े बड़ों को नाकों चने चबा दिये, किन्तु इस पर बश नहीं चलता।' घर में आकर बोला, " तो क्या मुझे बदनाम करने की ही ठान ली है ?"

कालिन्दी ने कहा, " तो और क्या करूं ! जब आप मेरा कहना नहीं मानते तो मैं लोगों से ही प्रार्थना करूंगी।"

गोविन्दलाल—तो तुम चाहती क्या हो ?

कालिन्दी—मैं सिर्फ दो बातें चाहती हूं।

गोविन्दलाल—क्या !

कालिन्दी:—एक तो यह कि पूरी तनख्वाह मेरे सुपुर्द कर दिया कीजिये और दूसरी रामप्यारी के यहां न जाने की शपथ खालीजिए।"

लाचार गोविन्दलाल ने दोनों बातें स्वीकार कर ली।

अन्त में कुछ दिनों में गोविन्दलाल के दोनों व्यसन सर्वथा छूट गए। यहां तक कि फिर उनके स्मरण मात्र से भी उनका हृदय घृणा से भर जाता। फल भी वैसा ही हुआ। फिर न कभी उन्हें घर के खर्च में कोर कसर करनी पड़ती और न घर में कलह होती। उस समय गोविन्दलाल ने दुखित मन से और कालिन्दी पर क्रोधित होते हुए ये बातें छोड़ी थीं, किन्तु अब वह कालिन्दी का आभार मानने लगे। कुछ दिनों बाद वृद्धा भी आगई और कालिन्दी की सफलता पर बड़ी प्रसन्न हुई। अब गोविन्दलाल वास्तव में एक ऊंचे चरित्र का व्यक्ति है और उसका घर दूसरे गृहस्थों में आदर्श गिना जाता है।

श्री पथिक जी की अन्य पुस्तकें जो प्रकाशन के पथ पर हैं

(१) प्रह्लाद विजय—यह महाकाव्य है इसे श्री पथिकजी की सर्वोत्कृष्ट रचना कहा जा सकता है। इसकी प्रेस कापी तैयार हो चुकी है। यह मुद्रित होकर शीघ्र ही पाठकों के हाथों में पहुँचेगी।

(२) "पथिक विनोद"—यह पथिक जी की फुटकर कविताओं का संग्रह है। इसमें सभी रसों की कवितायें हैं। यह पुस्तक छप रही है।

(३) "कल्पना कल्लोल"—यह समयानुसार लिखे हुये प्रबन्धों का संग्रह है। सभी प्रकार के विषयों पर छोटे बड़े लेख हैं। इसके प्रकाशन की भी व्यवस्था की जा रही है।

पुस्तकें मिलने के पते—

जानकी निवास
पथिकमार्ग, जनरलगंज, मथुरा
(उत्तर प्रदेश)

अथवा

श्री रामनाम प्रकाशन
सहकारी समिति,
हितकारी विद्यालय
कोटा (राजस्थान)